ओ३म्

संशोधित संस्करण

सत्यार्थ प्रकाश

उभरते प्रश्न गरजते उत्तर

महर्षि दयानन्द सरस्वती

-आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

तिथि ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी विक्रम सम्वत् 2075, दिनांक 20, जून 2018 उपराष्ट्रपति आवास पर 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ का विमोचन करते हुए महामहिम उपराष्ट्रपति श्रीमान् एम. वेंकैया नायडू जी

दिनांक 9/10/2011 को अन्तर्राष्ट्रिय ख्यातिर्लब्ध खगोल वैज्ञानिक प्रो. आभास कुमार मित्रा एवं प्रख्यात खगोल वैज्ञानिक प्रो. ए. आर. राव अनुसंधान भवन का उद्घाटन करते हुए

ओ३म्

सत्यार्थप्रकाश

उभरते प्रश्न – गरजते उत्तर

लेखक

आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक

सम्पादक

विशाल आर्य

(M.Sc. Theoretical Physics)

प्रकाशक

श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

(वैदिक एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान शोध संस्थान)

वेद विज्ञान मन्दिर, भागलभीम, भीनमाल जिला-जालोर

(राजस्थान) पिन- 343029

द्वितीय संस्करण

सन् 2018

श्री कृष्ण जन्माष्टमी
भाद्रपद कृष्णा अष्टमी
विक्रम संवत 2075

03 सितम्बर 2018

संख्या - 1000

मूल्य - 100 रु. वेद रक्षार्थ अपेक्षित सहयोग राशि

प्रकाशकः
श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास
(वैदिक एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान शोध संस्थान)
वेद विज्ञान मन्दिर, भागलभीम, भीनमाल जिला-जालोर
(राजस्थान) पिन- 343029
दूरभाष-02969-222103, 9829148400
Email: swamiagnivrat@gmail.com
Website: www.vaidicphysics.org, www.vaidicscience.com

अनुक्रमणिका

1. **भूमिका** 2

2. **क्या सत्यार्थ प्रकाश हमें लज्जित भी करता है?** 06
(क) ब्रह्मचारी रहते हुए ऋषि ने गर्भाधान आदि का विधि कैसे लिख दिया?
(ख) धाय की दूध पिलाने के लिये नियुक्ति
(ग) नियोग विषय

3. **पथभ्रष्टों का दम्भ** 23
(क) क्या सत्यार्थप्रकाश अनेक त्रुटियों से भरी रचना है?
(ख) क्या हिन्द, हिन्दी व हिन्दू उतने ही ग्राह्य हैं, जितना आर्यावर्त, आर्यभाषा और आर्य
(ग) शूद्र नीच नहीं है...उसके उपनयन संस्कारादि के विषय में...
(घ) क्या मूर्तिपूजा और मांसाहार का वेद में विरोध नहीं...

4. **कुछ अन्य सम्भावित शंकाओं का समाधान** 47
(क) महर्षि दयानन्द जी ने सूर्यादि लोकों में भी मनुष्यादि प्रजा का होना लिखा है।...
(ख) महर्षि ने मनुष्यों का युवावस्था में पृथ्वी से वृक्षों के समान उत्पन्न होना लिखा है।...
(ग) आर्यों के घर पर शूद्र रसोई बनावें, तब मुख बांधकर बनावें, क्यों...

भूमिका

आर्यसमाजियों के लिये सत्यार्थप्रकाश एक आधार ग्रंथ हैं। आनन्द कन्द भगवान् स्वामी दयानन्द द्वारा विरचित जितने भी ग्रंथ है, उनमें **"सत्यार्थप्रकाश'** एक प्रमुख एवं सार्वजनीन ग्रंथ है। इस ग्रंथ के पूर्वार्ध में मण्डनात्मक शैली व उत्तरार्ध में खण्डनात्मक शैली से मनुष्य मात्र के लिये आवश्यक सभी विषयों का वैदिक और आर्ष पद्धति से ज्ञान दिया है। बहुत से लोग स्वामीजी के इस ग्रंथ को पढ़कर ही सत्य सनातन वैदिक धर्म की श्रेष्ठता को जानकर जीवनभर इसके प्रचार-प्रसार में समर्पित रहे। इस ग्रंथरत्न ने देश को अनेक बलिदानी वीर दिये।

सत्यार्थप्रकाश के विविध प्रकाशकों ने अनेक संस्करण निकाले हैं, और उसे और ठीक से स्पष्ट करने के लिये विशेष पाद टिप्पणियां भी देते रहे। कभी-२ इस ग्रंथ की भाषा बदलकर समसामयिक करने या कुछ भाग निकालकर उसे इतर साम्प्रदायिक लोगों को मान्य बनाने हेतु विचार व्यक्त किये गये हैं। यह ग्रंथ के साथ न्याय नहीं होगा। समाजवादी, सर्वोदयी, वर्णाश्रमविरोधी, भौतिकवादी, पाश्चात्य और आधुनिक मतानुयायी एवं कुछ कथित आर्यसमाजी इत्यादि लोग इस ग्रंथ के कटु आलोचक रहे हैं। लेकिन खुले हृदय से पूरा ग्रंथ पढ़ने के बाद इस ग्रंथ के प्रशंसक भी बहुत से लोग बने हैं।

कुछ कथित आर्यसमाजियों द्वारा और इतर लोगों द्वारा भी सत्यार्थप्रकाश पर शंकायें और आक्षेप भी बहुत उठाये गये हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा कुछ-२ शंकाओं का निरसन भी किया गया है। पौराणिक, ईसाई और मुस्लिमों के साथ हुये शास्त्रार्थों में इन आक्षेप और शंकाओं पर शास्त्रीय और प्रसंगोचित सप्रमाण उत्तर और विवेचन आर्य विद्वानों ने दिये हैं।

नियोग और धाय को नवजात बच्चे को दूध पिलाने के लिये रखना इत्यादि विषयों पर शास्त्रीय निरसन प्राप्त है, लेकिन तार्किक और व्यावहारिक उत्तर अभी भी चाहिये, ऐसा बहुत लोग कहते हैं। सृष्टि

उत्पत्ति संबंधी शंकाओं का विज्ञान सम्मत उत्तर भी अपेक्षित है। विज्ञान के जानकार आर्य विद्वानों ने भी वैदिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक इत्यादि विषयों पर सारगर्भित उत्तम साहित्य का निर्माण किया है, लेकिन वेद विज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों पर बहुत कम लिखा है। सूर्य में (वसु) मनुष्यादि प्राणियों का होना तथा भूमि के अन्दर से सृष्टि के आदि में युवा पीढ़ी का जन्म लेना, ऐसे प्रश्नों का समाधान देना हमारे सामने एक बहुत बड़ी समस्या है। नियोग और धायी के प्रकरण पर आज के पारिवारिक और सामाजिक परिवेश में औचित्य सिद्ध करना कठिन सा है। वर्तमान भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में शूद्र वर्ण के संदर्भ में बात करना एक टेढ़ी खीर है। इस और अन्य विद्वानों द्वारा उठाये गयी शंकाओं पर उत्तर देने का आचार्य अग्निव्रतजी ने सोचा है, यह समय की मांग भी है।
आचार्य अग्निव्रतजी नैष्ठिक, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास, भागलभीम के संस्थापक-प्रमुख और आचार्य हैं। वेदों में विज्ञान के स्वरूप के अभ्यासक एवं वेद विज्ञान को आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों को उनके स्तर पर जाकर समझाने के लिये समर्पित व्यक्ति हैं। सत्यार्थप्रकाश के संदर्भ में जो कुछ समय-२ पर प्रश्न उठाये गये थे, उनके आचार्यजी ने कुछ के उसी समय "क्या सत्यार्थप्रकाश हमें लज्जित भी करता है" एवं "पथभ्रष्टों का दम्भ" नामक लेखों के माध्यम से दिये थे, उनका संकलन कर एवं कुछ दूसरे प्रश्नों के उत्तर भी हमारे विशेष आग्रह पर एक पुस्तक के रूप में अब प्रकाशित किये जा रहे हैं।

मैं इस संस्था से लगभग 13 साल से जुड़ा हूँ, और यहाँ के कार्य से प्रभावित हूँ। आपका अभी हाल में ऐतरेय ब्राह्मण का वैज्ञानिक भाष्य '**वेदविज्ञान-आलोकः**' नाम से विशालकाय ग्रन्थ के रूप में विश्व में प्रथम बार प्रकाशित हुआ है, जो वर्तमान भौतिकी के लिए क्रान्तिकारी व आश्चर्यप्रद ग्रन्थ है। इसका विमोचन देश के उपराष्ट्रपति श्रीमान् वैंकेया नायडू ने जून 2018 में किया था।

"सत्यार्थप्रकाश -उभरते प्रश्न गर्जते उत्तर" पुस्तक में मूलतः 3 अध्याय हैं।

(1) पहला अध्याय **"क्या सत्यार्थप्रकाश हमें लज्जित भी करता है?"** इस विषय के अन्तर्गत, नियोगप्रथा, धाय की नियुक्ति, गर्भाधान विधि इत्यादि पर विवेचन है।
(2) दूसरा अध्याय **"पथभ्रष्टों का दम्भ"** है। सत्यार्थ प्रकाश में संशोधन, हिन्द, हिन्दी और हिन्दू की मान्यता, सत्यार्थप्रकाश ग्रंथ में त्रुटियां, शूद्र(अनाड़ी), मूर्तिपूजा, मांसाहार-शाकाहार इत्यादि विषयों पर समाधान हैं।

(3) तीसरा अध्याय **"अन्य जटिल शंकाओं का समाधान"** नामक है। इसमें-
(क) सूर्य में मनुष्यादि प्राणियों का होना
(ख) सृष्टि उत्पत्ति के समय प्राणी और मनुष्यों का भूगर्भ के खोल में तरुण अवस्था में जन्म और
(ग) शूद्र एवं पाक कर्म के बारे में विशेष व्यावहारिक समाधान है।

ये तीनों अध्याय मैंने पढ़े हैं, और तार्किक, व्यावहारिक, वैज्ञानिक शैली से यथायोग्य विवेचक जान पड़े हैं। ऋषि दयानन्द के द्वारा सत्यार्थप्रकाश में मनुष्य के जीवन निर्माण प्राणिमात्र के लोक परलोक के अभ्युदय की भावना और वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन, इस पर ध्यान रखकर इस पुस्तक में विवेचन है।

अब तक तो हम आर्यजन इतर सम्प्रदाय के प्रश्नकर्ताओं के उत्तर देते रहे हैं। पौराणिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, साम्यवादी इत्यादियों से आर्यविद्वान् शास्त्रार्थ कर रहे थे। वह युग लगता है, अब समाप्त सा हुआ है। और इस समय हम लोग आपस में ही वादविवाद करने लगे। "वादे वादे जायते तत्वबोधः।" यह ठीक है, लेकिन आपस में के आरोप प्रत्यारोप से तत्वबोध हो, तो ठीक है। इससे समस्या का समाधान होना जरूरी है। परन्तु ऐसे लक्षण अभी तक दिखाई नहीं दे रहे। सत्यार्थप्रकाश के नये उत्तम संस्करण शुद्ध और विविध पाद टिप्पणियों से भरपूर हों, तो सत्यार्थप्रकाश समझने में सभी लोगों को बहुत लाभ होगा। सभी आर्यविद्वान् सत्यार्थप्रकाश के संबंध में यदि अपने विचार लिखकर एक मान्य विद्वत् समिति को दें, और वे सच्चा, सारगर्भित, प्रामाणिक सत्यार्थप्रकाश दें, यही सभी

आर्यजनों की इच्छा है। सत्यार्थप्रकाश हमारा श्रद्धा ग्रंथ है और यह हमें मेधावी और विवेकी बनाता है। होना तो यह चाहिये कि सत्यार्थप्रकाश के प्रत्येक समुल्लास पर अलग-२ विवेचनात्मक पुस्तकें निर्माण हों। "ईश्वर के 108 नाम'' विषयक प्रथम समुल्लास पर पुस्तकें उपलब्ध हैं। दूसरे भी कुछ समुल्लासों पर छोटी मोटी कुछ पुस्तकें उपलब्ध हैं। सभी समुल्लासों पर उत्तम प्रकार से विश्लेषण कर पुस्तकें लिखने से सत्यार्थप्रकाश के सिद्धान्तों का परिपोषण होगा। सत्यार्थप्रकाश पर होने वाले आक्षेप, प्रहार और शंकाओं का विद्वानों द्वारा सशक्त उत्तर भी मिलते रहने चाहिये। सत्यार्थप्रकाश हम आर्यसमाजियों को एक ज्ञानयोग जैसा है, उसके आलोक में हम दृढ़ता से आगे बढ़ते हैं।

"सत्यार्थप्रकाश - उभरते प्रश्न गर्जते उत्तर'' इस पुस्तक के कारण सत्यार्थप्रकाश की गरिमा के महत्व को और उजागर किया गया है। आचार्यजी ने समय-२ पर वैदिक धर्म पर लोगों के उठाये गये प्रश्नों पर यथायोग्य विवेकपूर्ण उत्तर दिये हैं। स्वाध्यायशील लोगों के लिये यदि ये सारे विविध प्रश्नों के समाधान/उत्तर भी एक पुस्तक के रूप में मिलेंगे, तो बहुत अच्छा होगा। इससे समाज का कल्याण होगा। वैसे आचार्यजी एक बहुत बड़ा लक्ष्य लेकर चल रहे हैं, जिससे आर्य समाज वा वेद के सभी सिद्धान्त स्वयं ही प्रसिद्ध हो जायेंगे। यह पुस्तक पूर्व में जुलाई 2011 में प्रकाशित हुई थी, अब यह इसका संशोधित संस्करण है। आशा है पाठक इसका भी पूर्ववत् स्वागत करेंगे।

ओ३म् शम्

प्रो० डॉ० वसन्त मदनसुरे (विद्यार्थी)
M.Tech. Ph.D.
पूर्व प्रमुख, अपारम्परिक ऊर्जा एवं विद्युत
अभियान्त्रिकी विभाग, (महाराष्ट्र)
पंजाबराव देशमुख कृषि विद्यापीठ, अकोला
वर्तमान-श्रुतिसौरभ, इंजिनियर्स कालोनी, बड़ी
उमरी, अकोला

क्या सत्यार्थ प्रकाश हमें लज्जित भी करता है?

(सितम्बर 2005 में लिखा लेख)

पिछले माह अर्थात् अगस्त 2005 में मैं आजमगढ़ एवं काशी के प्रवास पर गया। वहाँ आर्य समाज आजमगढ़ में कई व्याख्यान दिये। अनेक चुनौतियों की चर्चा की, तभी आर्य समाज के एक विद्वान्, जो स्नातकोत्तर कालेज में संस्कृत विभाग में उपाचार्य हैं, ने तथा एक अत्यन्त भावुक आध्यात्मिक वानप्रस्थ विद्वान् ने मेरे सम्मुख मंच पर ही तीन प्रश्नों की एक स्लिप भेज दी। जब मैंने मंच पर उनकी चर्चा की, तो कार्यक्रम के आयोजक मेरे मित्र ब्रह्मचारी श्री नरेन्द्र जी जिज्ञासु ने अपने पूर्व विषय पर ही बोलने का आग्रह करते हुए उन प्रश्नों का उत्तर मंच से न देने का आग्रह किया। जब मंच से अलग हटकर मैंने उन विद्वानों से चर्चा की, तो उनका कहना था कि तीन प्रश्न हमें ही नहीं बल्कि अनेक बड़े-२ आर्य विद्वानों को लज्जित कर देते हैं। मुझे अनेक व्यक्तियों से मिलते रहने के कारण व्यस्ततावश उनका समाधान करने का अवकाश नहीं मिला। वहाँ से काशी आया, तो वहाँ के आर्य समाजियों ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में धातु अभियान्त्रिकी विभाग में सृष्टि विषय पर व्याख्यान आयोजित करा दिया, जिसे सुनकर उन कार्यकर्ताओं ने पाणिनि कन्या महाविद्यालय की आचार्या मेधादेवी जी को कहा कि आज के व्याख्यान को सुनकर आर्य समाज का सिर गर्व से बहुत ऊँचा उठ गया है और भी अनेक बातें कहीं। वहीं एक ऋषि भक्त कार्यकर्त्ता ने मुझसे चर्चा के दौरान कहा कि पता नहीं आर्य समाजी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वैदिक विज्ञान पक्ष को क्यों भूल गये हैं और सत्यार्थ प्रकाश पर ही ध्यान विशेष देते हैं, जिसकी कुछ बातें सिर झुकाने वाली भी हैं।

मैं इस बात से तो सहमत भी हूँ कि वैदिक विज्ञान के विषय में आर्य समाज की कोई योजना नहीं है। बस यथा तथा काम चल रहा है और खण्डन में ही सारी शक्ति लगा रहे हैं। विज्ञान की चुनौती के सामने बेबश हैं और उस ओर ध्यान भी नहीं देते एवं न ऐसा करने का साहस ही रखते हैं। पुनरपि मैं इस बात से बहुत दुःखी व विचलित हुआ कि हमारे ऋषि भक्त मित्र मेरे महान् ऋषि के अमरग्रन्थ की कुछ बातों से सिर झुका लें, लज्जा अनुभव करें। मेरी

दृष्टि में तो सत्यार्थ प्रकाश की प्रत्येक बात स्वाभिमान का संचार करने वाली है। यद्यपि मैं अब किसी प्रकार के प्रश्नों के उत्तर देने के चक्कर में पड़ना नहीं चाहता परन्तु पता नहीं क्यों उन प्रश्नों से कुछ सोचने को विवश हुआ हूँ। वे गम्भीर व लज्जित करने वाले माने जाने वाले प्रश्न निम्नानुसार हैं–

१. ब्रह्मचारी रहते हुए ऋषि ने गर्भाधान आदि का विधि कैसे लिख दिया?

२. धाय का दूध पिलाने के लिये धाय कहाँ से लायें, जबकि स्वयं की मां नहीं पिला सकती? धाय का बच्चा क्या पियेगा? मां का दूध सर्वोत्तम भोजन है, ऐसी वैज्ञानिक बातों को छोड़कर ऋषि का मां को दूध बन्द करने का निर्देश उचित नहीं है बल्कि आपत्तिजनक है और धाय के बच्चे के साथ अन्याय भी है।

३. नियोग की प्रथा व उसकी वकालत करना अनुचित ही नहीं अपितु लज्जाजनक भी है।

प्रिय पाठकगण! इन तीनों ही प्रश्नों पर आर्य विद्वानों ने कई शास्त्रार्थ किये हैं, लेख लिखे हैं। पं. मनसाराम जी के **'वैदिक तोप'** एवं पं. बुद्धदेव जी मीरपुरी के ग्रन्थों में इनका शास्त्रीय प्रमाणों के साथ समाधान किया गया है। पाठक कृपया इनके ग्रन्थों का अवलोकन करने का कष्ट करें, तो शास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायेगा। ''निर्णय के तट पर'' में भी कुछ चर्चा है। हाँ, मैं यह अवश्य अनुभव करता हूँ कि जो भी उत्तर अब तक दिये गये हैं, उनमें तर्क कम शास्त्रीयता का समावेश अधिक है, एक गाली के उत्तर में 4 गाली देने की शैली भी हमारे विद्वानों में रही है। जैसे कोई नियोग पर आक्षेप करे, तो हमारे विद्वानों ने उसके उत्तर में अपनी बात के औचित्य को सिद्ध करने से अधिक पौराणिक अश्लीलता को लेकर खाल खींचने का काम अधिक किया है। उससे कटुता ही बढ़ी है। हाँ, दूसरे पर प्रहार करना भी आवश्यक होता है परन्तु इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति न तो हमारे ग्रन्थों को प्रमाण मानता है और न पुराणों को, ऐसे मुस्लिम, ईसाई व नास्तिकों

को पौराणिक अश्लीलता सुनाकर हमारी बात कैसे प्रामाणिक हो जायेगी? जो स्वयं व्यास ऋषि, हनुमान् व पाण्डवों को जारों की सन्तान व व्यभिचारी कहे, उसे उनके नियोगकर्ता वा नियोगज होने के प्रमाण देने से हमारी बात कैसे उचित सिद्ध हो सकती है? मैं समझता हूँ कि हमारे विद्वानों ने इस बिन्दु पर कभी विचार नहीं किया है और न आज भी कर रहे हैं। यही कारण है कि इस प्रकार धाय के दूध के विषय में जो सुश्रुत के प्रमाण देते हैं व ऐतिहासिक प्रमाण देते हैं, तब अंग्रजी पठित व्यक्ति सुश्रुत व इतिहास दोनों पर व्यंग कर वर्तमान विज्ञान का दम्भ भर कर ऋषि दयानन्द को नादान बताता है, जिसका उत्तर देने के लिए उपर्युक्त प्रमाण पूर्ण कारगर सिद्ध नहीं होते। यही कारण है कि आज अनेक विद्वान् आध्यात्मिक पुरुष व कट्टर ऋषिभक्त भी इन प्रश्नों के कारण अपने को लज्जित अनुभव करते हैं।

यद्यपि मैं आर्य समाज वेद व भारत राष्ट्र के मूल को बचाने का व्रत लेकर आगे बढ़ रहा हूँ, जिसकी ओर हमारे अभागे आर्य जनों का ध्यान ही नहीं हैं। वेद पर नये-नये ढंग से आक्रमण हो रहे हैं, ऊपर से हमारे विद्वान् स्वयं आर्य समाज के तृतीय नियम पर हृदय से विश्वास नहीं करते हैं। आधुनिक विज्ञान ने हमारी जड़ों को हिला दिया है, इधर हम हैं, जो नींद ही नहीं खुल रही। वाग्जाल में श्रोताओं को फंसाकर दान दक्षिणा लेकर ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझ रहे हैं। तो कोई भव्य भवनों को बनाने को ही लक्ष्य बनाये हैं। वेद को ज्ञान-विज्ञान का मूल बताने वालों को कहीं कोई वैज्ञानिक नहीं पूछता है, फिर भी उपाधिधारी वा पद वा मठधारी विद्वानों के अहंकार की कोई सीमा नहीं है।

अपने घरों में बैठकर दुनिया भर को ताल ठोक रहे हैं। बाहर निकलकर सत्यासत्य का डंका बजाने का साहस नहीं है। यदि कोई ऐसा सोचकर चलने का क्रम प्रारम्भ करता है, तो उसे उपेक्षित किया जाता है। न कोई सहयोग करता है, कोई-२ तो पत्र लिखकर अपनी आत्मीयता तक नहीं दर्शा सकते हैं। जैसे मैंने कोई नया मत पंथ चला दिया हो। क्या करूं? मैं अपनों का व्यवहार देखकर क्षुब्ध हूँ परन्तु मिथ्या पंथों में मिल भी नहीं सकता और न सुधांशु, श्रीराम शर्मा, भीमसेन शर्मा, आचार्य अभयदेव, स्वामी सत्यानन्द बन सकता।

दुःखी-सुखी इसी धर में जीना-मरना है। इसी कारण आर्यों (आर्य समाजियों क्योंकि आर्य तो कोई बिरले ही बचे हैं) की लाज को आज भी अपनी लाज मानता हूँ। इसी कारण यह सब लिखने को बाध्य हो रहा हूँ।

उपर्युक्त प्रश्नों के शास्त्रीय प्रमाणों को इसलिए छोड़ रहा हूँ कि उन्हें पाठकों ने पढ़ ही लिया होगा। समयाभाव के कारण प्रमाणों के सहित नहीं लिख पा रहा। पाठक गण उन प्रमाणों को मेरे तर्कों से जोड़कर देखते हुए समाधान पर विचार करें।

१. ऋषि को गर्भाधान आदि का विधि कैसे ज्ञात हुआ?

उत्तर- हर बात को जानने के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान की ही अनिवार्यता नहीं होती। यद्यपि एतद् विषयक वेदादि मंत्रों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वह स्वयं में पर्याप्त है। ऋषि वेद, शास्त्रों व आयुर्वेद आदि ग्रन्थों के माध्यम से शरीर ज्ञान में निष्णात विद्वान् थे। इस कारण उन्हें चारों आश्रमियों के सभी धर्म व कर्तव्य, राजा-प्रजा, शिष्य-गुरु, व्यापार, कृषि, पाकशाला, दर्शन, योग, विज्ञान सभी क्षेत्रों का पूर्ण ज्ञान था, इस कारण लिख दिया। कोई यह कहेगा कि ऋषि राजा नहीं थे, तब षष्ठम समुल्लास कैसे लिख दिया? तो कोई कहेगा कि ऋषि ने सृष्टि बनते तो देखी नहीं फिर षष्ठम समुल्लास कैसे लिख दिया? ऋषि व्यापारी, किसान, अर्थशास्त्री भी नहीं थे, तो उनके विषय में कैसे लिख दिया? ये सब प्रश्न कोई बहुत बुद्धिमत्ता के परिचायक नहीं हैं। ऋषि तो वैसे भी मंत्रद्रष्टा, ब्रह्मद्रष्टा होते हैं। उन्हें तो सभी लौकिक विद्याओं का ज्ञान योग द्वारा भी हो सकता है (यदि वे ऐसा चाहते हैं) तब ऋषि के इस ज्ञान पर शंका कैसी? कोई अब यह कहे कि क्या यह आवश्यक था, जो अश्लील प्रतीत होता है उसको भी साफ-२ बता दिया, उसका उत्तर यह है कि विज्ञान को पढ़ने वाला इन सबके विषय में जानता व पढ़ता ही है। ऐसा पढ़े बिना शरीर शास्त्र का ज्ञान कोई करा ही नहीं सकता। ऋषि ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने सम्पूर्ण मानव मात्र के लिए एक जीने की व्यवस्था देते हुए मुक्ति तक का मार्ग बताया अन्यथा अन्य सुधारक हवाई बातों तक सीमित रहे। पृथिवी पर पैर रखना नहीं आता, उन्हें आसमान में उड़ने के स्वप्न दिखाते रहे। इसी कारण ऋषि दयानन्द सबसे अनूठे हैं, महान् हैं, महत्तम हैं। मानव का

निर्माण गर्भाधान से ही प्रारम्भ होता है, बीज वपन से ही वृक्ष के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यदि बीज वपन का उचित विधि व विज्ञान न सिखाया जाय और फल काटने के लम्बे-२ उपदेश दिये जायें, तब क्या वे सार्थक होंगे? नहीं, कदापि नहीं। इसी कारण यथार्थ द्रष्टा ऋषि मानव निर्माण की पूर्ण योजना लिये संसार में आये थे। फिर जब वेद में गर्भाधान का उपदेश है, तब क्या दयानन्द ने ऐसा करके अपराध कर दिया? क्या रोगी होकर ही डॉक्टर बना जाता है? कोई रोगी डॉक्टर से कहे कि क्यों आपको कभी यह रोग हुआ है? यदि नहीं, तो मुझे क्या दवा बता सकते हो? ऐसा रोगी निश्चित ही नादान कहलायेगा। रोग की दवा बताने के लिए रोगी बनना आवश्यक नहीं बल्कि रोगविषयक शास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी प्रकार सर्वशास्त्रज्ञ दयानन्द ने गृहस्थ धर्म का उपदेश लोकहितार्थ किया है, जो न केवल उचित है अपितु आवश्यक भी है।

२. धाय के विषय में-

यहाँ ऋषि के वचन हैं- ''प्रसूता का दूध ६ दिन तक बालक को पिलावे पश्चात् धायी पिलाया करे परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान पान माता पिता करावें। जो कोई दरिद्र हो, धायी को न रख सकें, वे गाय या बकरी के दूध में उत्तम औषधि बल, पराक्रम, आरोग्य करने हारी हों, उनको शुद्ध जल में भिजा, औटा, छान के दूध के समान जल मिला के बालक को पिलावें। जन्म के पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे स्थान, जहाँ का वायु शुद्ध हो, वहाँ रखें, सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रखें और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहाँ का वायु शुद्ध हो और धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके, वहाँ जैसा उचित समझें, वैसा करें क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव के समय निर्बल हो जाती है, इसलिए प्रसूता स्त्री का दूध न पिलावें। दूध रोकने के लिए स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करें, जिससे दूध स्रावित न हो। ऐसा करने से दूसरे महीने में ही प्रसूता पुनरपि युवती हो जाती है। तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य का निग्रह रखे। इस प्रकार जो स्त्री पुरुष करेंगे, उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल, पराक्रम की वृद्धि होती रहेगी, जिससे सब

सन्तान उत्तम बल, पराक्रम युक्त, दीर्घायु तथा धार्मिक हों।''...... .... (स. प्र. द्वितीय समुल्लास)

''जो बालक दूध पीना चाहे, तो उसकी माता पिलावे। जो उसकी माता को दूध न हो, तो किसी स्त्री की परीक्षा करके उसका दूध पिलावे।.......... ६ दिन तक माता का दूध पीवे और स्त्री भी अपनी शरीर की पुष्टि अर्थात् अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करें .... छठे दिन स्त्री बाहर निकले और सन्तान के दूध के लिए कोई धाय रखे। उसको खान पान अच्छा करावें। वह सन्तान को दूध पिलाया करे और पालन भी करे परन्तु उसकी माता लड़के पर पूर्ण दृष्टि रखे ....'' (स. प्र. चतुर्थ समुल्लास (द्वितीय संस्करण)

ऋषि वाक्यों पर विचार– यहाँ ऋषि के सम्पूर्ण विचारों को पढ़कर निम्न बातें स्पष्ट होती हैं–

१. 6 दिन तक माता ही दूध पिलाये, यदि उसके दूध है, तो। यह एक अनिवार्य व्यवस्था है।
२. माता के दूध न आने पर प्रारम्भ से ही धायी की व्यवस्था हो और यदि मां के दूध आता है, तब भी ६ दिन पश्चात् धायी की व्यवस्था हो तथा माता आते हुए दूध को बन्द कर दे।
३. यदि माता पिता निर्धन हैं, तो धायी के स्थान पर गाय, बकरी आदि की व्यवस्था करें परन्तु उस दूध में विभिन्न उत्तमोत्तम औषधियों का सम्मिश्रण करके दूध को मां के दूध के समान उपयोगी बना कर ही काम में लिया जाये।
४. जिस धायी को दूध पिलाने के निमित्त रखा जाए, उसकी भी परीक्षा करे।
५. धायी को उत्तमोत्तम भोजन कराया जाए, जिससे दूध की मात्रा एवं गुणवत्ता दोनों में वृद्धि हो।

इन बातों पर विचार करने से तीन बातें सामने आती हैं –

१. बच्चा हर स्थिति में स्वस्थ, संस्कारित एवं बलवान् बने। वे सद्यः प्रसूता माता के पीले गाढ़े दूध को अनेक विटामिन्स के साथ एण्टी-बायोटिक्स का भण्डार भी मानते हैं, जिससे बच्चे

की रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है, इसी कारण ही ऋषि ने धायी रखने का विधान ६ दिन बाद ही किया है। इतने दिन का दूध ही विशिष्ट गुणों वाला होता है, ऐसी ही स्थिति पशुओं में भी होती है। उसके बाद दूध सामान्य होता जाता है, तब ही धायी की व्यवस्था करने को कहा है। ऐसा नहीं कहा कि प्रसव के तत्काल बाद ही धायी रख ले जबकि उस समय और भी दुर्बलता होती है। इससे स्पष्ट है कि वे उस दूध के महत्व को समझते हैं। इस कारण उससे बच्चे को वंचित नहीं करना चाहते, ऐसा दूध धायी के पास नहीं हो सकता। 6-7 दिन पश्चात् धायी और मां के दूध में विशेष भेद नहीं होता। इस कारण मां के दूध के वैशिष्ट्य का लाभ भी बच्चे को मिल गया और मानव के लिए मानव का दूध ही सर्वोत्तम है, इस कारण धायी की व्यवस्था करने को कहा, क्योंकि वह भी मां है। यदि वह उपलब्ध न हो सके, तो बकरी वा गाय के दूध में ओषधि को मिलाकर गुणयुक्त बनाकर ही देने को कहा अर्थात् बच्चे के स्वास्थ्य, संस्कार आदि का पूर्ण ध्यान रखा गया है।

२. बच्चे के साथ ऋषि का ध्यान उस माता के स्वास्थ्य पर भी जाता है, जो सद्यः प्रसव के कारण अति दुर्बल हो गयी है। यह सभी स्वीकारेंगे कि प्रसव से अत्यधिक दुर्बलता आ जाती है। उस पर भी बच्चा बराबर दूध पीता रहे, तो दुर्बलता दूर होने में अति विलम्ब होगा। फिर ऋषि के द्वितीय समुल्लास वाले अन्तिम वाक्यों पर विशेष ध्यान दें, तो ज्ञात होता है कि ऋषि यह भी विचारते हैं कि यदि उसी दुर्बलता में पुनः गर्भाधान कर दिया, तो आने वाली सन्तान भी माता के साथ अति दुर्बल हो जायेगी। ऋषि ने चतुर्थ समुल्लास में उपर्युक्त वाक्यों के कुछ ऊपर लिखा है कि गर्भ धारण के उपरान्त एक वर्ष तक पति पत्नि का शारीरिक सम्पर्क नहीं होना चाहिए। वे यह भी भावना रखते हैं कि गर्भाधान करते समय पति पत्नि दोनों के शरीर में बल पराक्रम की पूर्णता होनी चाहिए। इसी कारण गर्भाधान से पूर्व भी दोनों के उत्तम खानपान की व्यवस्था आवश्यक बतायी है, तब अगली सन्तान के लिए प्रसूता की दुर्बलता को कैसे उपयुक्त मान सकते हैं? इस

कारण उनका लक्ष्य यह भी है कि एक ओर प्रथम सन्तान बलवान् व निरोगी हो, तो दूसरी ओर प्रसूता भी यथाशीघ्र पूर्ण स्वस्थ एवं बलवती हो, जिससे गर्भाधान हो भी जाये, तो भी मां व अगली सन्तान का स्वास्थ्य अच्छा ही रहे। वे आजकल अपनाये जाने वाले कृत्रिम निरोधकों के प्रयोग करने की सलाह देकर दोनों को स्वच्छन्द भोगी बनाना नहीं चाहते बल्कि हर जगह ब्रह्मचर्य व बल के महत्त्व को दर्शाते हैं। इसी कारण दुर्बल प्रसूता को दूध न पिलाने की सलाह देते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य माता को पुनः बलवती बनाना है, न कि माता को उसके बच्चे के लालन-पालन से दूर करना, अन्यथा वे धायी के द्वारा किये गये पालन पर पूर्ण दृष्टि रखने का निर्देश क्यों देते? इससे यह भी संकेत मिलता है कि जब माता पुनः युवती हो जाये, तो जिस प्रकार ओषधि प्रयोग से दूध का स्रवण रोका गया था। उसी प्रकार अन्य औषधियों के प्रयोग से दूध स्रवण पुनः प्रारम्भ करके पिलाया भी जा सकता है क्योंकि उस स्थिति में माता के प्रसूता होने का कष्ट व दुर्बलता का कारण समाप्त हुआ। ''कारणाभावात्कार्याभावः'' अर्थात् कारण मिटा, तो कार्य भी मिट जाना चाहिए। यद्यपि यह बात ऋषि के वाक्यों से प्रत्यक्षतः प्रतीत नहीं होती परन्तु विज्ञजन उनकी भावना को जानकर मेरा यह मत अवश्य ही ऋषि के मन्तव्य के अनुकूल ही मानेंगे।

ऋषि ने धायी की परीक्षा की बात भी कही है। यह परीक्षा कैसी होगी, यह स्पष्ट नहीं है। हाँ, हम अनुमान कर सकते हैं कि धायी उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव वाली तथा पूर्ण स्वस्थ होनी योग्य है। तब यह कार्य परिवार की अन्य मातायें जिनके बच्चे कुछ बड़े हो गये हैं और दूध पर्याप्त आता है, सहज तथा उतने काल तक कर सकती हैं, जब तक प्रसूता पूर्ण स्वस्थ और बलवती न हो जाये। उसके बाद वह अपने बच्चे को स्वयं सम्भाल ले, निश्चित ही वह धाय उत्तम कुल वाली संस्कारित ही होगी और वही बच्चे का पूर्ण हित करने में सक्षम भी होगी। साधारण अनपढ़, संस्कारहीन व दुर्बला स्त्री धाय की योग्यता नहीं रखेगी।

३. माता व बच्चे के हित को साधने के पश्चात् धाय के हित में भी ऋषि सोचते हैं-

जो निर्धन हों, धाय न रख सकें, तो गाय-बकरी के दूध के प्रयोग की व्यवस्था है। इससे सिद्ध होता है कि धाय के दूध के बदले में धनादि दिया जायेगा, जिससे उसके परिवार को भरण-पोषण में सहायता मिलेगी। इससे सिद्ध है कि निर्धन परन्तु गुणवती, बलवती स्त्रियां भी धाय का काम कर सकती हैं, जिससे उनका यह कार्य एक व्यवसाय के समान हो जायेगा। धाय क्योंकि सद्यः प्रसूता नहीं है, इस कारण दूध पिलाने से उसके स्वास्थ्य को कोई संकट उत्पन्न नहीं होगा। उसके उत्तमोत्तम भोजन की व्यवस्था भी करनी है, जिससे उसके तथा उसके अपने बच्चे के स्वास्थ्य पर भी विपरीत प्रभाव नहीं होने पावे। कोई कहे कि प्रसूता अपने बच्चे को भी दूध नहीं पिला सकती जबकि धाय दोनों बच्चों का पालन करे, क्या यह उसके अपने बच्चे के साथ घोर अन्याय नहीं है? क्या यह निर्धनों का शोषण नहीं है? मैं पूछता हूँ कि प्रसव की दुर्बलता की उपमा दूधादि पिलाने से उत्पन्न दुर्बलता से नहीं की जा सकती। फिर यह अस्थायी व्यवस्था है। जो इस बात पर हाय-तोबा मचाते हैं, वे स्वयं अपने क्षेत्र में क्या यही सब व्यवहार नहीं कर रहे होते हैं? क्या इस प्रकार के व्यवहार के बिना समाज व्यवस्था कभी चल सकती है? एक धनी व्यक्ति निर्धन रिक्शे वाले के रिक्शे में छाया में बैठकर आराम से जाता है तो दूसरा मनुष्य (रिक्शा वाला) उस धनी को पैसे के बदले धूप, वर्षा, सर्दी में पैरों से खींचने का कठिन श्रम करता है। रिक्शे वाले का बच्चा अपने पिता की यह स्थिति देखकर दुःखी होता है, उधर धनवान् का बच्चा मजे से पिता से गप्पें लड़ाता जाता है। एक धनी किसी गरीब से मजदूरी कराता है, फावड़ा चलवाता है, किसान खेती में पसीना बहाता है, धनी ए.सी. बंगलों में बैठे हैं। उसको या किसी डाक्टर, वकील, इन्जीनियर को एक दिन भी ऐसे कठिन कार्य में लगा दिया जाये, तो शरीर यात्रा ही समाप्त करके चल बसे। तब क्या यह सब समाज व्यवस्था की अनिवार्यतायें नहीं हैं? यदि रिक्शे वाले मजदूर आदि से काम ही न करवाया जाये, तो उनका पालन कौन करेगा? यदि बैठे-२ ही उन्हें खाने को दिया जाये, तो क्या पुरुषार्थहीनता से उनका वा समाज का भला हो सकेगा? हाँ, उनको उनके पुरुषार्थ का धनी लोग पूर्ण मूल्य न दें, शोषण करें, तब अवश्य

ही घोर पाप व अन्याय है। उसके साथ पूर्ण मानवीय प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए पूर्णरूपेण धनादि की व्यवस्था करें, तो सम्पूर्ण समाज सुखी रहेगा। इसी प्रकार ऋषि ने धाय का कर्म करने वाली माताओं के परिवारों के लिए भी ध्यान रखा है, साथ ही धाय के स्वास्थ्य पर कोई दुष्प्रभाव न पड़े, उसके बच्चे के लिए भी दूध उपलब्ध हो, इससे उसे उत्तमोत्तम भोजन स्वयं धाय रखने वालों के हाथ से कराने का विधान किया है। उन्होंने यह नहीं कहा कि उसे मात्र धन ही दे दें। जिससे वह अपने घर पर उत्तम भोजन कर सके। क्योंकि वे इस मनोविज्ञान से भी परिचित हैं कि सम्भवतः वह घर पर धन ही एकत्र करती रहे और स्वयं उचित व पर्याप्त खान-पान नहीं रखे, जिससे उसका तथा दोनों बच्चों का स्वास्थ्य गिर जाये। इस कारण उसके साथ अन्याय वाली बात यहाँ नहीं मानी जा सकती और यह उसका व्यवसाय भी है। तब उसे यह सब करके अपनी जीविका चलानी ही है। इसलिए जिस प्रकार मजदूर से मजदूरी कराना तब तक अन्याय नहीं है, जब तक उसको पर्याप्त मजदूरी दी जाती रहे। इसी प्रकार धायी को बिना उचित धन व भोजन के धाय का काम लेना निश्चित ही अन्याय होगा परन्तु ऐसा यहाँ नहीं है। कोई कहे कि दूध पिलाना अलग बात है मजदूरी कराना अलग बात है। ऐसा कहने वाले से धूप में पत्थर तुड़वाना चाहिए अथवा रिक्शे में 4-5 सवारी बिठाकर ज्येष्ठ की दुपहरी में रिक्शा खिंचवाना चाहिए, फिर पूछना चाहिए कि यह काम दूध पिलाने से सरल है वा कठिन? वस्तुतः ऐसी सोच साम्यवादी विचारों के प्रभाव का परिणाम है, जो मजदूरों को भड़काकर धनियों के विरुद्ध संघर्ष को ही समाज का न्याय मानते हैं, जबकि वे स्वयं ए.सी. बंगलों में रहकर अत्यल्प वेतन पर अपने घरेलू नौकरों का शोषण कर रहे होते हैं। गरीब-अमीर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सब संसार में हैं। कर्मानुसार व्यवस्था परमात्माधीन है। हाँ, मानव को अपनी तरफ से शोषण न करके सबके प्रति विशेषकर दुःखियों के प्रति करुणा का भाव रखना चाहिए और दुःखियों को चाहिए कि वे धनी लोगों को देखकर द्वेष, ईर्ष्या व विरोध का भाव न रखकर प्रसन्नता का भाव रखें, तभी समाज में सुख शान्ति रह सकती है। सभी के समान कर्म ही नहीं, तब फल कैसे सबको बराबर मिल सकता है? जीव कर्म में स्वतन्त्र है, तब उसे समान किया भी कैसे जा सकता है?

हाँ, इतना तो ध्यातव्य है कि धाय प्रसूता नहीं हो, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसके साथ न्याय नहीं होगा। उसका बच्चा कुछ बड़ा होकर उसका अन्नप्राशनादि भी हो चुका हो अथवा कम से कम पूर्ण स्वस्थ एवं बलवती हो, तो अवश्य उसके साथ न्याय होगा और उसका व उसके परिवार का भला होगा और सद्यः प्रसूता व नवजात बच्चे का भी कल्याण होगा। दोनों में परस्पर सहयोग, सहकार, प्रेम का भाव होगा। समाज में एकरसता व एकता का सुखद भाव आयेगा।

४. **नियोग विषय–** इस विषय पर विचार करने से पूर्व हमें ऋषि के उन–२ मन्तव्यों पर विशेष ध्यान देना चाहिए, जो जितेन्द्रियता को अति आवश्यक मानते हैं। सर्वप्रथम तो महर्षि दयानन्द जी की मान्यता यह है कि जो युवक वा युवती जितेन्द्रिय रह सकें तथा राष्ट्र व समाज का विशेष हित करना चाहें, वे विवाह ही न करें परन्तु ऐसा संकल्प करने वालों को सचेत भी करते हैं कि यह काम पूर्ण विद्या वाले जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थाम कर इन्द्रियों को अपने वश में रखना, परन्तु उनकी भावना अवश्य यह है कि जो ऐसा कर सकते हैं, वे अवश्य करें (देखें– सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास एवं संस्कृत वाक्य प्रबोध) इस प्रकार की तैयारी के लिए अथवा वैदिक विचारानुकूल गृहस्थ बनने के लिए वे उनके माता–पिता द्वारा गर्भाधान से ही तैयारी आवश्यक मानते हैं। वे शिक्षा विषय को प्रारम्भ करते हुए, द्वितीय समुल्लास को आरम्भ करते हुए एक आर्ष वचन को उद्धृत करते हैं– **''मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद''** अर्थात् माता–पिता व आचार्य को अच्छा शिक्षक होना चाहिए, तभी सन्तान उत्तम होगी। उस समुल्लास के पूर्व प्रथम समुल्लास में सर्वोत्तम ज्ञान परमेश्वर के ज्ञान की विशद चर्चा से करते हैं। एक सौ नामों की व्याख्या से ईश्वर के स्वरूप का वह गागर में सागर भरा है, जो अन्यत्र कहीं भी एक साथ मिलना सम्भव शायद नहीं हो सके। इतने ज्ञानी पुरुष के लिए भी प्रथम विवाह की योग्यता निर्धारित करते हुए चतुर्थ समुल्लास में भगवद् मनु महाराज को उद्धृत किया है।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्।।

अर्थात् जो पूर्ण अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अर्थात् स्वप्न में भी वीर्य स्खलन न हुआ हो, ऐसी पूर्ण जितेन्द्रियता युक्त पुरुष वा स्त्री ने चारों वेद, तीन, दो वा कम से कम एक वेद का सांगोपांग अध्ययन नहीं किया हो, उसे गृहस्थ बनने का ही अधिकार नहीं। अर्थात् प्रथम तो पूर्ण जितेन्द्रिय व परोपकारी विवाह ही न करें और यदि करें भी, तो उपर्युक्त योग्यता अनिवार्य है। इस प्रकार के माता पिता गर्भाधान से पूर्व, मध्य और पश्चात् शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, जिससे रजवीर्य भी दोषों से रहित होकर गुणयुक्त हो। इसके पूर्व पठन काल में अष्ट मैथुनों से पूर्ण पृथक् रहें। तदुपरान्त बलादि से युक्त स्त्री पुरुष गर्भाधान विधिपूर्वक करें तथा गर्भ ठहरने से एक वर्ष पर्यन्त परस्पर कभी शारीरिक सम्पर्क नहीं करें। ऋषि का कथन यह है कि मनुष्य पूर्ण ऋतुगामी हो। इस विषय में पशु भी हमारे आदर्श हो सकते हैं, जो बिना ऋतु काल के मादा के पास जाते तक नहीं हैं। ऋषि का मन्तव्य यह है कि सन्तानोत्पादन हेतु ही शारीरिक सम्बन्ध होवे। जब सन्तान की इच्छा नहीं हो, तो कभी शारीरिक सम्बन्ध करे ही नहीं। जिन मनु के इस वाक्य पर लोग उपहास कर सकते हैं कि अधिकतम 10 सन्तान तक उत्पन्न करें, वे यह भूल जाते हैं कि जिन्होंने घृणित सन्तति निरोधकों द्वारा सारे जीवन स्वेच्छाचारिता में सारे रिकार्ड तोड़ रखे हैं और **''हम दो हमारे दो''** को आदर्श मान दिखावे में संयमी बनते हैं। क्या किसी पशु को ऐसा करते किसी ने देखा है? वे भला उन मनु (जो कहते हैं कि जीवन में अधिकतम 10 बार ही शारीरिक सम्बन्ध रखो।) पर क्या व्यंग्य कर सकते हैं? है कोई मनु विरोधी जो ऐसी अधिकतम व्यवस्था में भी रह सकता है? अर्थात् अपने जीवन काल में मात्र दस बार ही शारीरिक सम्बंध रखने का संयम दिखा सकता है?

अब हम नियोग व्यवस्था पर आते हैं। यहाँ तक लिखने का भाव यह है कि ऋषि का स्तर अत्युच्च कोटि का था। उनके स्तर तक सोचने का मस्तिष्क व चित्त ही आज के श्रेष्ठतम कहाने वाले मनुष्यों में भी नहीं है। जो उद्देश्य विवाहित स्त्री पुरुषों के शारीरिक संयोग का होता है, वही उद्देश्य नियोग का भी होता है। केवल अन्तर यह है कि नियोग अस्थायी व आपात्-काल की व्यवस्था है, जबकि विवाह का उद्देश्य न केवल सन्तानोत्पत्ति है अपितु समाज को एक व्यवस्थित व श्रेष्ठ रूप देना भी है और यह आजीवन स्थायी व्यवस्था है। दोनों ही व्यवस्थाओं पर सामाजिक अनुमति की मुहर लगाना अनिवार्य है। इसके बिना दोनों ही व्यवस्था व्यभिचार की श्रेणी में आ जाती हैं। यहाँ मैं इसकी पुष्टि में वेदादि के प्रमाण नहीं दूंगा क्योंकि अवैदिकों को उससे क्या मिलेगा? और कुछ वैदिक उसके अर्थों को भी बदलने का दुःसाहस कर सकते हैं। मैं यहाँ न कोई ऐतिहासिक प्रमाण ही दूंगा क्योंकि आज पाश्चात्य शिक्षा के दास व्यास, वायुदेव, इन्द्र, धर्मदेव आदि को व्यभिचारी कहने में क्यों संकोच करेंगे? इस कारण मैं केवल साधारण तर्कों का प्रयोग कर रहा हूँ। पुनर्विवाह किसका हो व किसका नहीं, यह विषय भली प्रकार पहले सत्यार्थ प्रकाश में पढ़ लिया जाय। फिर नियोग कब व क्यों किया जाय, उस वैचारिक परिपक्वता व उच्चत्व के स्तर तक पहुंच कर पढ़ा जाय, तब अनेक प्रश्नों का समाधान वहीं हो जायेगा। मैं सत्यार्थ प्रकाश के सभी तर्कों को यहाँ उद्धृत कर पिष्टपेषण करके लेख को व्यर्थ बढ़ाना नहीं चाहता। ऋषि तो व्यभिचार वा कुकर्म रोकने का उपाय लिखते हैं- ''इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें विवाह वा नियोग भी न करें, तो ठीक है परन्तु जो ऐसे नहीं है उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए। विधवा वा विधुर को उसी आपात् काल में नियोग की प्रेरणा करते हैं, जब उनको सन्तान की इच्छा हो अथवा जिस विधुर वा विधवा से ब्रह्मचारी न रहा जा सके। इससे उनके काम का फल यह होगा कि सन्तान भी प्राप्त हो जायेगी, क्योंकि ऋषि बिना सन्तान की इच्छा के बीज व्यर्थ फेंकना व्यभिचार व पाप मानते हैं। उनका मानना उसी प्रकार यथार्थ है, जिस प्रकार कोई किसान सुन्दर बीज को यूं ही ऊसर में बिखरने को ही किसान का धर्म मान ले

और फल एक भी प्राप्त न हो सके और न फल पाने की इच्छा ही करता हो। ऐसे किसान को महामूर्ख ही माना जायेगा। परन्तु जो बीज फेंकने में ही आनन्द मान रहे हों, उनको क्या समझाया जाय? वही दशा उनकी है, जो सम्पूर्ण जीवन भोग तो करना चाहते हैं परन्तु सन्तान होने से ऐसा डरते हैं, जैसे भयंकर नाग को छूने से लोग डरते हैं। वे घोर अप्राकृतिक होते हुए भी सर्वथा प्राकृतिक ईश्वरीय व्यवस्था के पालन को पाप मानते हैं और स्वयं सारे जीवन पति वा पत्नि व्यभिचार में रत हैं, वे स्वयं को संस्कारवान् गृहस्थ मानते हैं और ऋषियों को पापी ठहराते हैं। यदि कोई कहे कि क्या आज कोई ऋषिभक्त कहाने वाला अपनी पत्नि, पुत्री, भगिनी का किसी से आपत्तिकाल में भी नियोग कराना चाहेगा अथवा क्या कोई माई का लाल अपनी बड़ी भाभी वा छोटी भाभी से आपत्तिकाल में नियोग करेगा? यदि ऐसा करेगा तो निश्चित ही महापापी व दुष्ट कहलायेगा और मैं भी इसे स्वीकार करता हूँ कि वर्तमान देश काल परिस्थिति में ऐसा ही कहना उपयुक्त होगा। तब कोई कहेगा कि फिर क्यों मैं ऋषि प्रोक्त वा वेदोक्त नियोग व्यवस्था की वकालत कर रहा हूँ? क्यों नहीं मैं भी कुछ आर्यों की भांति दबी जुबान से इसे सत्यार्थ प्रकाश, वेद वा भारतीय इतिहास का एक कलंक मान लूं। नहीं, मैं ऐसा कदापि नहीं कर सकता परन्तु मैं वर्तमान में इस परम्परा को उचित भी कदापि नहीं मान सकता। हाँ, सिद्धान्ततः नियोग श्रेष्ठ आपद् धर्म है। कोई पूछे कि आज क्यों इस धर्म को अधर्म बताते हुए वर्तमान में ऐसा करने को पाप बतला रहे हैं? इसका कारण मैं बतलाना चाहूँगा। सर्वप्रथम यह जान लेना चाहिए कि कुछ व्यवस्थाएं देश काल परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी हो जाया करती हैं, भले ही वे कितनी भी श्रेष्ठ व हितकारिणी क्यों न हों? जो कार्य हेमन्त ऋतु में करणीय हो सकता है, वही कार्य ग्रीष्म ऋतु में अकरणीय होगा। कोई कार्य ध्रुव प्रदेश में करणीय, वहीं कार्य भूमध्य रेखीय उष्ण प्रदेशों में हानिकर हो सकता है। कोई कार्य बच्चे के लिए करणीय, वही युवकों व वृद्धों के लिए अकरणीय हो सकता है। इसके उदाहरण देना मैं आवश्यक नहीं मानता क्योंकि यह प्रायः सभी प्रबुद्ध पाठक जान सकते हैं। प्राचीन काल में नदी के तीर पर, वन में, पर्वत पर संध्या करने, वनभ्रमण व निवास को वानप्रस्थ व संन्यासी का धर्म बताया है

परन्तु आज वन हैं ही नहीं और कहीं हैं तो उन अधिसंख्य वनों में कंटीली झाड़ियां, जलविहीनता वा दूषित जल की ही विद्यमानता, मच्छर आदि का घोर प्रकोप, कन्द मूल फलों का प्रायः अभाव, तो कहीं भाव है तो वन विभाग का पहरा। ऐसे में ‘‘गंगातीरे हिमगिरिशिला....’’ को व्यवहार में लाना कोई सहज कार्य नहीं है और न यह आवश्यक ही है, तब हमें इसके ऐसे विकल्प खोजने पड़ेंगे, जहाँ साधना में विघ्न भी न हो और वन जैसी शान्ति, सरलता, प्राकृतिक जीवन घर वा आश्रमों में ही उपलब्ध हो। जिस काल में यह सब लिखा गया, उस काल में प्राकृतिक वातावरण, सामाजिक व्यवस्था एवं राजधर्म भी तदनुकूल ही था। राम राज्य में मच्छर, सर्प आदि का भी भय नहीं था। तब भले कहीं भी बैठकर निर्विघ्न साधना की जा सकती थी। आज तो बन्द घर में भी बैठकर मच्छरदानी व पंखा चाहिए, तब घोर जंगल में कैसे साधना होगी? इसलिए हमें पुराकाल की कुछ उत्तमोत्तम व्यवस्थाओं को तत्काल में पूर्ण हितकारिणी मानते हुए भी वर्तमान प्रतिकूल काल में उसे उचित नहीं मानना चाहिए। जब भारत में नियोग प्रथा प्रचलित थी, उस समय के लोग उपरिवर्तित संयमित सुव्यवस्थाओं में रहते थे। वे कामशक्ति सम्पन्न होते हुए भी कामुक नहीं होते थे। स्त्री पुरुष परस्पर संयोग मात्र संतानोत्पत्ति के हेतु से ही करते थे। चाहे वह नियोग हो वा विवाह। जब प्रयोजन सिद्ध हो जाता था, तो कोई शारीरिक सम्बन्ध की अभिलाषा भी उनमें नहीं होती थी। तब वे निश्चित ही नियोग करने वा कराने के अधिकारी थे परन्तु आज जब मानव ने कामुकता में संसार के सभी गिरे से गिरे प्राणियों को भी पीछे छोड़ दिया है, जो व्यर्थ वीर्यादि बहाने में ही आनन्द मानते हैं और जिस लिए बीज का प्रयोग होना चाहिए, उससे भय खाते हैं। जहाँ स्वयं माता सर्पिणी बनकर वा भूखी कुतिया बनकर अपने ही भ्रूण को खा जाती है अर्थात् गर्भपात कर पापिनी बन जाती है, तो कोई परिवार नियोजन के नाम पर स्वेच्छाचारी होकर भोग लिप्सा में प्रतिदिन निरत रहते हैं, वे भला नियोग पर अंगुली उठाने के कहाँ अधिकारी रहे और न वे नियोग करने कराने के अधिकारी ही हैं।

आश्चर्य यह है कि जो लोग सत्यार्थ प्रकाश को भूमिका से लेकर तीसरे समुल्लास तथा आधे चौथे समुल्लास की महर्षि की प्रोज्जवल मान्यताओं, जिनको शतांश भी जीवन में उतारने की योग्यता नहीं रखते, वे सीधे नियोग प्रथा को लेकर शोर मचाते हैं। अरे! पहिले यह तो पढ़ लो कि ऋषि जितेन्द्रियता को कितना महत्वपूर्ण मानते हैं? वे विवाहितों को भी कैसा बनने का परामर्श देते हैं? यदि ऋषि के बातों को मानो, तो गृहस्थ बनना भी असम्भव हो जायेगा, तब नियोग कौन कर वा करवा सकेगा? इस बात को कौन नकार सकता है कि ऋषि के द्वारा अनुमोदित गृहस्थ के लिए विरला ही खरा उतर सकता है। नियोग की योग्यता तो इससे भी बढ़कर है। तब कहाँ नियोग पर चर्चा करने चले हो। अच्छा तो यही है कि अपने अन्दर झांक कर देखें, फिर कीचड़ उछालें। भला जो व्यक्ति शरीर शास्त्र का क, ख, ग भी नहीं जानता, उसे एक योग्य सर्जन द्वारा की जाने वाली चीर-फाड़ पर शोर मचाने का क्या अधिकार है? अरे! पहले सर्जरी का प्रारम्भिक ज्ञान तो कर लो, उसके बाद सोचना कि सर्जन द्वारा की जाने वाली चीर-फाड़ हिंसा नहीं बल्कि सच्ची अहिंसा है। इसी प्रकार जो अति जितेन्द्रिय योगी पुरुष वा स्त्री हैं, वे ही नियोग करने कराने की योग्यता रखते हैं और वे ही इस विषय पर विशेष चिन्तन कर सकते हैं। सिद्धान्ततः विचार हर प्रबुद्ध निष्पक्ष व्यक्ति कर सकता है, जो भले ही पूर्ण जितेन्द्रिय न हो परन्तु इन्द्रियासक्ति को पाप तो मानता हो। इन्द्रियासक्ति को स्वाभाविक मानने वाले के मस्तिष्क में यह बात सात जन्म तक भी नहीं समा सकती कि नियोग अच्छा है, और बुरा तो उसे इस कारण कह रहा है क्योंकि समाज आज बुरा कहता है। इस समाज में क्या-२ पाप खुले वा छुपे हो रहे हैं, उधर ध्यान न समाज देता है और न आरोप लगाने वाले। आज नियोग ही नहीं अपितु कई ऐसी वैदिक व्यवस्थाएं हैं, जो किसी भी निष्पक्ष सत्यमार्गी व्यक्ति को उचित प्रतीत होंगी परन्तु करना सम्भव नहीं है। जैसे वेद ने कहा कि यदि कोई हमारी गाय, घोड़ा वा मनुष्य को मारेगा, तो उसे गोली से मार देना चाहिए। यद्यपि यह आदेश पूर्णतः उचित व हितकारी है परन्तु आज की सामाजिक व राजव्यवस्था इसे करने नहीं देगी। हजारों निर्दोष प्राणियों के हत्यारे को मारने वालों को दण्ड देने वाला वीर पुरुष भी उसी प्रकार जेल में बन्द कर दिया जायेगा, जिस प्रकार कोई अन्य हत्यारा बन्द किया जा सकता है। तब यह कैसा अन्धा कानून है? इस अन्धे

कानून के रहते आज वेद का उचित व उत्तम आदेश कैसा व्यर्थ हो गया है? तब क्या दोष वेदादेश को दिया जाये? उस उत्तम व्यवस्था को दिया जाये वा आज के पापपूर्ण तथाकथित समानता के व्यवहार का दम्भ करने वाली कानून व्यवस्था को दिया जाये, यह पाठक स्वयं सोचें। यदि यह व्यवस्था लागू करने भी दी जाये, तो परस्पर खून ही बहने लगेंगे। जिसमें ताकत होगी, वह कमजोर को अवसर पाकर मारता ही रहेगा। आज पापी को गोली मारने का स्तर रखने वाले भी तो विरले ही हैं। वैदिक आर्ष व्यवस्था वह भी है कि जो धनी दान नहीं करता और जो गरीब तप नहीं करता, उन दोनों को मार डालना चाहिए। (देखें विदुर नीति) आज यह व्यवस्था लागू हो, तो भी भयंकर रक्तपात हो जाये, क्योंकि आज तो दान मांगने वाले अर्थचोरों का भी एक जाल बिछा हुआ है, जो बलपूर्वक दान मांगेगा और न देने पर विदुर जी का प्रमाण देकर अदाता को मार डालेगा। उसी प्रकार भूखे नंगे शोषितों को रक्तशोषक धनी तप करने का उपदेश करेगा अन्यथा मार डालने को तत्पर रहेगा। इस कारण यह व्यवस्था भी वर्तमान में उचित नहीं, क्योंकि न तो आज तपस्वी भिक्षार्थी रहे और न परोपकारी धनी व्यक्ति रहे। इसलिए आज वैदिककालीन उत्तमोत्तम परन्तु इस प्रकार की तीक्ष्ण वा आपद्धर्म की व्यवस्थाओं को सहसा अपनाने की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण वातावरण को ही वेदानुकूल बनाने की आवश्यकता है। उसके पश्चात् ही उन व्यवस्थाओं को लागू किया जा सकता है, अन्यथा योग्य व्यक्ति को भी नियोग का अधिकार नहीं होना चाहिए क्योंकि यद्यपि वह उचित कर रहा है, पुनरपि अनधिकारी लोग उसके स्तर को न जानकर स्वयं सन्तान हेतु नहीं बल्कि व्यभिचार में प्रवृत्त हो सकते हैं जिससे सामाजिक ढांचा चरमरा सकता है। हाँ, यदि कभी वैदिक साम्राज्य वा समाज स्थापित हो जाये, तो पुनः वे सारे नियम सहज लागू हो सकते हैं। परन्तु इतना भी स्मरण रहे कि तब भी नियोग सामान्य धर्म न होकर आपद्धर्म ही रहेगा, जबकि विवाह सामान्य धर्म ही रहेगा।

पथभ्रष्टों का दम्भ

(अगस्त 2002 में लिखा लेख)

आर्य समाज के मूर्धन्य विद्वान् श्रद्धेय डा. भवानीलाल जी भारतीय द्वारा प्रेषित **'आर्य जगत्'** साप्ताहिक के 02 जून 2002 के अंक में प्रकाशित एक तथाकथित प्रबुद्धा लेखिका डा. वन्दिता अरोड़ा द्वारा लिखित लेख 'शुद्ध आर्य समाज और प्रबुद्ध आर्य समाज' कल ही पढ़ा। हृदय को गम्भीर आघात लगा कि किस प्रकार आर्य नामधारी अनार्यों द्वारा प्रकाशित एक अनार्य द्वारा सम्पादित एवं अपने को प्रबुद्धा कहलाने वाली एक अनार्या लेखिका ने आर्य समाज के आदर्शों पर प्रहार किया है? वैसे जब से श्री उदयवीर इस पत्र के सम्पादक बने हैं, तब से वे निरन्तर अनार्यत्व की धारा बहाकर जिन पात्रों में खा रहे हैं, उन्हीं में छेद करने का पाप कर रहे हैं। अयि! दयानन्द ऋषि के नाम से भीख मांगने वालो! आर्य समाज के नाम से पेट पालने वालो! डी.ए.वी. नाम से बने भव्य भवनों में बैठे ऐश्वर्य सम्पन्नो! क्या कृतघ्नता के पाप से आपको भय नहीं होता? आर्य जगत् के 7 जुलाई 2002 के अंक में किसी पाठक की प्रतिक्रिया पर टिप्पणी करने वाले! उदयवीर जी महाशय वा अरोड़ा महोदया! यदि आप तथा आपकी स्वयम्भू प्रबुद्ध मण्डली आर्य प्रादेशिक सभा में साहस है, तो आर्य सिद्धान्तों के सतत सजग प्रहरी 'दयानन्द सन्देश के जुलाई 2002 अंक में आप लोगों का शास्त्रार्थ का आह्वान करने वाले हमारे आर्य विद्वानों श्री प्रो. राजेन्द्र जी जिज्ञासु एवं श्री डा. ज्वलन्त कुमार जी शास्त्री की चुनौती स्वीकार करो। इसके साथ ही मेरे इस लेख को अपने आर्यजगत् में प्रकाशित करने तथा उसका खण्डन भी करने का साहस करें। अपने इस लेख के माध्यम से मैं समस्त आर्य जगत् को सन्देश देना चाहता हूँ कि आप लोगों की सुषुप्ति वा मरणावस्था, कायरता एवं नपुंसकता के कारण ही आर्यत्व की चहुँ ओर से हत्या हो रही है। सिखों के भय से दुम दबाकर भागने वाले (जैसा कि शास्त्रार्थ के आह्वान से प्रकट हो रहा है) अनार्य लोग आपको प्रमादी, भीरु, स्वाध्यायहीन समझकर ही निर्लज्जता से अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं। मैं कब से ही आर्य जगत् की करतूतें देख-पढ़ रहा था परन्तु अब इनकी कृतघ्नता की सीमा का कोई पार दिखाई न देख, अपने धैर्य की सीमा को समाप्त कर

इनको यह चुनौतीपूर्ण उत्तर दे रहा हूँ। मैं प्रबुद्ध कहाने वालों को कह रहा हूँ कि आओ, पता चलेगा कि कौन प्रबुद्ध है और कौन बुद्धू (मूर्ख)?

परोपकारिणी सभा के मान्य प्रधान श्री गजानन्द जी आर्य द्वारा लिखा लेख भी इसी आर्य जगत् के इसी अंक में देखने को मिला। इसी लेख के खण्डन में लेखिका ने कलम घिसाई कर डाली है। ओह! महोदया! श्री आर्य जी ने क्या आपत्तिजनक लिख दिया, जो आपको सहन नहीं हो पाया? आज आर्यत्व पर प्रहार करने वाले तो अनेकों राक्षसीवृत्ति के लोग हैं, आप लोग तो कृपा बनाये रखें, इस मिटते आर्यत्व पर। मैं श्री गजानन्द जी आर्य के पक्ष में खड़ा रहकर आपके लेख का उत्तर संक्षेप में दे रहा हूँ। आप अपनी प्रबुद्धि से तुलना करते जाना।

डा. अरोड़ा ने लेख में प्रबुद्ध एवं शुद्ध का भेद दर्शाकर अपने पांडित्य पाखण्ड का प्रदर्शन किया है। ऐसा प्रतीत होता है लेखिका में इतनी भी बुद्धि नहीं है कि 'शुद्ध' और 'प्रबुद्ध' शब्दों के अर्थ को भी समझ सकें। फिर भी अपने को प्रबुद्ध होने का दम्भ किया? 'शुद्ध' का अर्थ है– पवित्र, निश्कलंक, निर्दोष, विमल आदि। इस शुद्धता से तथाकथित प्रबुद्धों को द्वेष है अर्थात् वे अशुद्धता को प्रबुद्धत्व का लक्षण मान रहे हैं अर्थात् उनका प्रबुद्धत्व अपवित्र, कलंकित, दोषी व मल से परिपूर्ण है। तब डा. अरोड़ा जी का आर्यत्व कैसा रहा, यह तो वे ही जानें। 'प्रबुद्ध' जिसका अर्थ है– जागा हुआ, बुद्धिमान्, चतुर। भला अपवित्र मलों से परिपूर्ण भी बुद्धिमान् कहलायेगा? हाँ, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो जागकर सब जानते अवश्य हैं, बुद्धिमान् भी होते हैं परन्तु स्वार्थ में चतुर चालाक नम्बर एक होते हैं और आचरण में गन्दे, मल, दोष व कलंक से भरे। क्या ऐसा ही शुद्धता का द्वेषी, विरोधी प्रबुद्धत्व आपका है? यदि हाँ, तो कृपया ऐसे प्रबुद्धत्व को अपने पास ही सम्भाल कर रखिये। मेरे जैसा तो निश्कलंक, पवित्र, सर्वथा सर्वांग निर्दोष व विमल आर्यत्व की मूर्ति–ऋषि दयानन्द का भक्त व वेदानुरागी आपकी चालाक छदम्–बुद्धि से दूर ही ठीक है। एक बात और भी कह दूं कि आपको 'प्रबुद्ध' शब्द का भी अर्थ ज्ञात नहीं है अन्यथा प्रबुद्धता का शुद्धता से भेद नहीं दर्शातीं। भला जो प्रबुद्ध है अर्थात् जाग गया है,

बुद्धिमान् है, वह शुद्धता का ही तो वरण करेगा। क्या कोई बुद्धिमान् अशुद्धि, मलादि विकारों का सेवन करना चाहेगा? कदापि नहीं। वह शुद्ध आचरण, शुद्ध भोजन व शुद्ध विचारों का ही सेवन करेगा अन्यथा वह प्रबुद्ध ऐसा ही धूर्त व मूर्ख कहलायेगा, जो मदिरा और धूम्रपानादि को हानिकारक जानकर भी सेवन करता है और अपने शरीर, परिवार, समाज व राष्ट्र का नाश करता है। कहें जी! आपका प्रबुद्धत्व ऐसा ही तो नहीं है? महोदया! आपको 'आर्य' शब्द का भी अर्थ पता नहीं है। याद रखो- प्रकृत (स्वाभाविक शुद्ध) आचरण करने वाला ही **'आर्य'** कहलाता है, ईश्वर पुत्र अर्थात् ईश्वरीय मर्यादाओं को पालने तथा सत्य ज्ञान के साथ तदनुकूल क्रिया वा आचरण करके प्राप्तव्य को पाने का प्रयास करने वाला ही 'आर्य' कहलाता है। इस प्रकार जो शुद्ध होगा, वही आर्य होगा, वही प्रबुद्ध भी होगा, कर्मशील होगा और अपने लक्ष्यों को पाने में सफल भी वही होगा। इसलिए पहिले आप अपने शीर्षक को शुद्ध कर लें, तब ही कलम चलावें। परन्तु शुद्धत्व से घृणा करने वाला भला शीर्षक को भी क्यों शुद्ध लिखेगा? आपका शीर्षक वास्तव में तो 'शुद्ध आर्य समाज एवं छद्मवेशी आर्य समाज' होना चाहिए। अस्तु!

अब आपके प्रबोध की परीक्षा करते हैं-
यह ठीक है कि ऋषि दयानन्द का अपना कोई नवीन मत चलाने का कोई प्रयोजन नहीं था परन्तु उनका अभिप्राय यह भी नहीं था कि आज के पाश्चात्य भोगवादी पशुसभ्यता के दास उच्छृंखल होकर कुछ का कुछ मानते व प्रचारित करते रहें। ऋषि के आधे-अधूरे उद्धरण देकर लेखिका ने पाठकों के साथ छल करने का प्रयास किया है। ऋषि स्वमन्तव्य को बताते हैं- **''जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य उसी को मानता हूँ जो तीनों कालों में एक सा सबके सामने मानने योग्य है।''**

ऋषि दयानन्द वेद तथा ब्रह्मा से जैमिनि मुनि पर्यन्त के मन्तव्य को मानने का परामर्श देते हैं, न कि स्वेच्छया यथा-तथा मानने को। हाँ, आपने व आपके प्रबुद्धों ने अधिक दुनियां देखी है, वे कुछ भी मान सकते हैं। आपका लिखना है- ''दयानन्दी बनने का

क्या अर्थ है? हम दयानन्द को अपना गुरु मानते हैं, पूज्य मानते हैं। वह योगी थे, ब्रह्म ज्ञानी थे। उन्होंने जो कुछ लिख दिया, वह परम सत्य है।'' यह आपने कटाक्षपूर्वक लिखा है। आपने सत्यार्थ प्रकाश पर हमारी श्रद्धा की उपमा मुसलमान व ईसाईयों की कुरान व बाईबल पर श्रद्धा से की है। आपने लिखा है- उनके (प्रबुद्ध आर्य समाजियों के) विचार से सत्यार्थ प्रकाश अनेक त्रुटियों से भरी रचना है, जिसे उचित संशोधनों के बाद ही स्वीकार किया जा सकता है।''

समीक्षा- आप दयानन्द को गुरु नहीं मानतीं। क्या आपको 'गुरु' शब्द का अर्थ भी ज्ञात है? वा द्वेषी भावना से यह लिख मारा है। भगवान् मनु 'गुरु' का सामान्य लक्षण लिखते हैं-

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया।। 2/149

अर्थात् जो कोई जिस किसी को विद्या पढ़ाकर थोड़ा वा अधिक उपकार करता है, उसको भी इस संसार में उस विद्या पढ़ाने के कारण गुरु समझना चाहिए।

आचार्य की परिभाषा में भगवान् मनु का कहना है-

उपनीयतु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।।

अर्थात् जो यज्ञोपवीत कराके कल्प सूत्र और वेदान्त सहित शिष्य को वेद पढ़ावे, उसको आचार्य कहते हैं।

यह तो ठीक है कि ऋषि दयानन्द के श्रीमुख से हम लोगों ने कुछ नहीं पढ़ा परन्तु उनके ग्रन्थों और उनके तप और बलिदान के फलस्वरूप ही हम कुछ पढ़ने-पढ़ाने वा सुनने-सुनाने के अधिकारी हो सके हैं। आप जिस महिला वर्ग से हैं, उसे तो नरक के द्वार से निकाल कर स्वर्ग का मार्ग दिखाने, पैरों की जूती से सिर का ताज बनाने, ढोल, गंवार के समान ताड़ना से बचाकर घर की साम्राज्ञी बनाने, वेद पढ़ने, पढ़ाने वा उच्च पदों पर पहुंचाने का काम उसी

गुरु वा आचार्य दयानन्द का है, जो हम व आपके लिए विष पीता रहा, लाठी, तलवार के वार सहता रहा, जंगलों, बर्फानी पहाड़ों में भटकता रहा परन्तु ओह कृतघ्न तथाकथित प्रबुद्ध आर्यों की अधिवक्त्री डा. अरोड़ा जी! आप उस देव दयानन्द को हमारे द्वारा पूज्य, गुरु, योगी व ब्रह्मज्ञानी मानने पर निर्लज्जता पूर्ण उपहास कर रही हैं। याद रखो– 'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः' (वा. रामायण)। ऋषिवर ने थोड़ा बहुत नहीं बल्कि अकल्पनीय उपकार हम पर किये हैं और आप पर तो हमसे बहुत अधिक। इसी कारण दयानन्द हमारे व आपके गुरु हैं, आचार्य हैं, पूज्य ही नहीं, परमपूज्य हैं। आप जैसे लोगों को क्या पता है कि योग वा ब्रह्मज्ञान क्या होता है, जो उनके योगी व ब्रह्मज्ञानी होने पर प्रश्न उठा रही हैं। आप हर बात में स्वयं की बुद्धि से सोचने की वकालत कर रही हैं। परन्तु महोदया! आपके लेख से तो बुद्धि की झलक मात्र भी प्रतीत नहीं हो रही। संसार में कौन प्रबुद्ध होने का दावा करने वाला केवल अपनी ही बुद्धि के आश्रय पर जीवित भी रह सकता है? कौन है जो पृथिवी को गोल व घूमती हुई नहीं मानता है? कौन सूर्य को पृथिवी बड़ा नहीं मानता है? कौन एटम की संरचना को प्रमाण रूप में नहीं मानता है? कौन है जो चिकित्सक के ज्ञान पर विश्वास नहीं करता है? क्या आपका प्रबुद्धत्व ऐसा नहीं करता है? मैं पूछता हूँ कि क्या आपने वा आपके हर प्रबुद्ध ने पृथिवी के आकार व गति को स्वनेत्रों से देखा है? सूर्य के आकार को नापा है? एटम की रचना को देखा है? यदि नहीं तो आपका स्वबुद्धि से ही निर्णय करने का व्रत कहाँ गया? क्यों आपने शोधकर्ताओं को प्रमाण मान लिया? तब क्यों न हम आप्त दयानन्द वा ऋषियों को प्रमाण मानें? क्यों हम हर बात में संशय करें? याद रखो जिस प्रकार आप इन प्रमाणों के साथ स्वबुद्धि से भी सोचती हैं, वहाँ हम भी बुद्धि रखते हैं।

आप दुनियां देखने पर ही दम्भ कर रही हैं। सुनो, दुनियां तो रेलों में घूमने वाले भिखारियों ने सबसे अधिक देखी है। वे आप जैसे हजारों को प्रतिदिन देखते हैं, तब वे आपके आप्त पुरुष तो निश्चय ही हो जायेंगे। यह ठीक है कि सत्यार्थ प्रकाश, वेद नहीं है परन्तु यह वेद का प्रवेश द्वार है। इसे, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, दर्शन, उपनिषद्, निरुक्त, व्याकरण अन्य वेदांग तथा ब्राह्मण ग्रन्थों को समझे बिना वेद में प्रवेश नहीं होगा। सत्यार्थ प्रकाश को पं. गुरुदत्त जैसा वैज्ञानिक

रत्नों की खान समझता था परन्तु आपकी मेधा कहूँ वा ऋतम्भरा (?) उसे त्रुटियों का पिटारा बता रही है। हीरे के मूल्य को जौहरी ही तो जानता है, अज्ञानी तो उसे पत्थर जानकर गिलोल में रखकर फैंक ही सकता है। यही अवस्था आप लोगों की है। कहीं मुद्रण दोष मिल सकते हैं, उन्हें भी वेद-वेदांगों-उपांगों के तलस्पर्शी विद्वान् ही जान सकते हैं। डी.ए.वी. वा प्रादेशिक सभा के मैकाले मानसों के वश की बात नहीं है। आपने दुनिया कब से देखी है, यह भी आपके लेख से स्पष्ट हो गया। आपने लिखा है- ''आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की 107 वीं वार्षिक रिपोर्ट के प्राक्कथन में सभा मंत्री श्री प्रबोध महाजन ने लिखा है- 'ऐसे करोड़ों लोग हैं, जो आर्य समाज के सदस्य न होते हुए भी आर्य समाज की विचारधारा को मानते हैं' यह आँखें खोल देने वाला वाक्य है।'' इससे सिद्ध हुआ कि प्रबोध महाजन जी के इस वाक्य कथन से आपकी आँखें खुल गयीं, उससे पूर्व तो बंद आँखों से ही सब कार्य कर रहीं थीं। परन्तु हमारी आँखें तो दिव्य दयानन्द ने, उनके अमर ग्रन्थों ने, पं. गुरुदत्त, स्वामी श्रद्धानन्द, पं. लेखराम, महात्मा हंसराज, स्वामी दर्शनानन्द जैसे तपस्वियों, बलिदानियों ने कब की ही खोल दी थीं, फिर भी आपने दुनियां हमसे अधिक देख ली? प्रबोध जी ने यह वेद वाक्य से बढ़कर महावाक्य क्या कहा, मानो सृष्टि का प्रथम सूर्योदय हो गया? तब सारी रिपोर्ट को तो कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती। अहा! आपकी दृष्टि में तो गूलर ही अंजीर बन गया वा मूंगफली बादाम बनकर घमंड करने लगी। छूआछूत, ऊँच-नीच, दहेजप्रथा आदि का उन्मूलन, नारी सम्मान आदि तक ही आप ऐसे प्रबुद्धों का आर्य समाज सीमित है। आर्यत्व की जो परिभाषा पूर्व में मैंने लिखी है, उसे आपके प्रबुद्ध क्या समझें? आपका कहना है कि करोड़ों लोग अपने को आर्य समाजी कहलाना नहीं चाहते। ऐसा है भी क्योंकि सत्य के पालक, ज्ञाता, प्रचारक संसार में कम ही हुआ करते हैं। महापुरुष विरला ही बनता है। महापुरुषों तथा सत्पुरुषों की भीड़ कभी नहीं होती। भीड़ कामी, चोरों, बेईमानों, शराबियों, मांसभक्षियों की होती है, जो है भी। आर्य समाज की जड़ें सूख रही हैं, यह सत्य है और यह हमारी चिन्ता की बात भी है परन्तु मैं यह स्पष्ट कहना चाहूँगा कि यह दोष हमारा अपना है, दयानन्दियों का है और आप ऐसे तथाकथित प्रबुद्धों का है, दयानन्द का नहीं और न वैदिक सिद्धान्तों का ही। ऋषि भक्तों को 'दयानन्दी' कहकर उपहास करने वाली मान्या लेखिका! हम तो

दयानन्दी हैं, ब्रह्मा ऋषि से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त के भक्त हैं और हमें इस पर गर्व भी है परन्तु आपको पूछता हूँ कि आप कौन हैं? मूर्तिपूजा की प्रशंसा करने वाली आप आद्यशंकराचार्य वा वर्तमान नकली शंकराचार्यों की भक्त हैं, जो आपको नरक का द्वार बताते हैं वा बता रहे हैं? अथवा बाबा तुलसीदास की, जो ढोल, गंवार के समान ताड़ने योग्य बता गये? अथवा आप ईसाई वा मुसलमानों की भक्त हैं, जो नारी में आत्मा ही नहीं मानते वा खेती के समान मानते हैं? अथवा आप अमरीका व यूरोप की कुसभ्यता की भक्त हैं, जो नारी को भोग्या मात्र मानते हुए समान अधिकार की दुहाई देती है? कहो तो सही, आप कौन हैं? आप लिखती हैं-

''ये लोग आर्य समाज की अपेक्षा पिछड़े नहीं हैं। ज्ञान, विज्ञान, अर्थशास्त्र का इन्हें अधिक ज्ञान है। वे उच्च पदस्थ और प्रभावशाली भी हैं।''

समीक्षा- इसका तात्पर्य आप आर्यों को पिछड़ा मानती हैं। ऋषि के वेद भाष्य को पढ़कर देखो तो पता चलेगा कि वेद की विद्या व आदर्श दोनों ही आधुनिक विद्या व आदर्श से उच्च हैं। जिस समय वायुयान आदि अनेक शिल्प विद्याओं की कोई कल्पना तक नहीं करता था, उस समय ऋषि ने अनेक विद्याओं का प्रकाश अपने वेद भाष्य में किया था। कोई यदि ऐसा कहे कि दयानन्दियों ने क्या किया तो उसका दोष सच्चा दयानन्दी नहीं बन पाना है, न कि दयानन्द वा दयानन्दी बनने को दोष दिया जा सकता है। इसका कारण यह भी है कि राजकोष का सारा धन तो नकली प्रबुद्ध आर्य वा अन्य लोग खा रहे हैं, हमारे पास है भी क्या, जिससे कोई विशेष कार्य हो सके। फिर भी हम विज्ञान के कई क्षेत्रों में अपने गुरु दयानन्द पर आइंस्टीन की प्रतिभा को न्यौछावर कर सकते हैं। आप दयानन्द को पढ़कर तो देखिए तो पता चलेगा कि आज कोई एक भौतिकविद्, दूसरा रसायनज्ञ, तीसरा गणितज्ञ, चौथा भूगोलवेत्ता, कोई अर्थशास्त्री, कोई पर्यावरणवेत्ता, इतिहासज्ञ, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री कोई एक हो सकता है परन्तु हमारा गुरु दयानन्द 'एकस्मिन्नेव सर्वे' अर्थात् 'ऑल इन वन' था और न केवल यह था बल्कि इसके अतिरिक्त हमारा गुरु योगी ही नहीं बल्कि महायोगी, ब्रह्मज्ञानी, शरीर से महाबली, आत्मा से महात्मा, मर्यादा में श्रीराम, वक्तृत्व कला व नीतिमत्ता में

श्रीकृष्ण, तार्किकता में आचार्य शंकर, त्याग में बुद्ध, तप में महावीर, प्रेम में ईसा, भ्रातृत्व में मुहम्मद, देशभक्ति में प्रताप, कूटनीति में शिवा, भक्ति में कबीर, दादू, तुलसी था, ब्रह्मचर्य व्रत में भीष्म और हनुमान् था। उस महापुरुष के जीवन चरित्र व शास्त्राध्ययन से अपने तथाकथित प्रबुद्धों की क्या तुलना कर सकती हैं?[१]

आपका कहना है– ''उनकी (प्रबुद्ध आर्यों की) दृष्टि में हिन्द, हिन्दी व हिन्दू उतने ही ग्राह्य हैं, जितना आर्यावर्त, आर्य भाषा और आर्य।''

समीक्षा– इस पर हमें कुछ नहीं कहना है क्योंकि आपके प्रबुद्धों में बुद्धि ही इतनी है। उन्हें न इतिहास का ज्ञान है और न वैदिक वा भारतीय संस्कृति का। पाश्चात्यों के उच्छिष्ट भोजी बनकर अहंकार पीड़ित अवश्य हैं। जरा बताइये कि आपके हिन्द, हिन्दी व हिन्दू शब्दों का प्राचीन भारतीय साहित्य में कहाँ उल्लेख है? यदि आपको अपना व अपने देश का नाम देखने के लिए ईरानी ग्रन्थ अवेस्ता वा अन्य विदेशी साहित्य को ढूंढ़ने का प्रयास करना पड़े वा अपने नवीन ग्रन्थों से ही सन्तोष करना पड़े, तो यह क्या यह लज्जा का विषय नहीं है? क्या हमारे पूर्वजों को अपना व अपने देश का नाम भी पता नहीं था? आश्चर्य तो इस बात का है कि नाम के लिए भी विदेशों का प्रमाण मानने वाले भी स्वयं को स्वदेश भक्त कहते हैं? पुनरपि मैं वर्तमान परिस्थितियों में नाम के इस विवाद को बहुत आवश्यक नहीं मानता हूँ परन्तु कोई सत्य का गला घोंटकर असत्य को प्रतिपादित करे वा सत्य को असत्य के बराबर स्थान दे अथवा वेद, इतिहासादि भारतीय ग्रन्थों को छोड़ विदेशी गीत गाये, तब यह लिखना आवश्यक हो जाता है कि सत्य यह है। हमें इस विषय में विदेशियों वा इनके मानस पुत्रों से कुछ सीखना नहीं है। हाँ, हम तो अपने को प्रबुद्ध आर्य बतलाने वाले वा 'हिन्दू' शब्द पर गर्व करने वालों को देखकर

---

१. अब तो आचार्य जी ने ऐतरेय ब्राह्मण का वैज्ञानिक भाष्य विशालकाय ग्रन्थ के रूप में 'वेदविज्ञान-आलोकः' नाम से किया है, इसे पढ़कर बडे-२ वैज्ञानिक प्रतिभाशालियों के पसीने छूट जायेंगे- सम्पादक

लजाते अवश्य हैं एवं दुःखी भी होते हैं कि इनको क्या रोग लग गया है? क्यों आप लोगों को भारतीयता व ऋषियों से घृणा हो गयी है?

आप लिखती हैं– ''शूद्र नीच नहीं है– इसमें (सत्यार्थ प्रकाश में) कई अलग–२ स्थानों पर शूद्रों को अनार्य, नीच, चमार आदि लिखा है। प्रबुद्ध आर्यों की दृष्टि में शूद्र उतने ही आर्य हैं, जितने कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। जात–पात का कोई भेद नहीं है। यहाँ तक कि उपनयन संस्कारादि के विषय में भी शूद्र से रत्ती भर भी भेदभाव उन्हें मान्य नहीं है। उन्हें यह मान्य नहीं है कि शूद्र को संहिता भाग न पढ़ाया जाये।''

समीक्षा– इस विषय में प्रायः लोग अम्बेडकरवाद, गांधीवाद, साम्यवाद आदि वादों से प्रेरित होकर आपत्तियां उठाते हैं और वे पूरी तरह पूर्वाग्रह से ग्रस्त होते हैं। 'नीच' शब्द के अनेक प्रसंगों में अनेक अर्थ सिद्ध होते हैं। जिलाधीश एक उच्च पदाधिकारी है, तो चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी निम्न कर्मचारी है। क्या इस बात को कोई नकार सकता है? क्या डा. अरोड़ा महाविद्यालय में च.श्रे. कर्मचारी को अपने से निम्न कर्मचारी नहीं मानती हैं? क्या वह आपके आदेश का पालन नहीं करता है? क्या वह पानी पिलाना, झाड़ू लगाना आदि निम्न स्तर के कार्य नहीं करता है? क्या वे उसे प्राचार्य के समान मानकर तदनुकूल व्यवहार करते हुए उसी के अनुकूल सुख, सुविधा व अधिकार दिला सकती हैं? संसार भर में कोई भी समानता का दावा करने वाला देश, संगठन वा व्यक्ति समानता नहीं रख सकता है। योग्यता के अनुसार भेद होता ही है। जन्माधारित असमानता तो उचित नहीं परन्तु कर्मानुसार भेदभाव एक अनिवार्य वास्तविकता है, जिसके बिना कोई भी व्यवस्था चल ही नहीं सकती। एक श्रमिक जिसे प्राचीन भाषा में शूद्र कहा जाता था, प्रतिदिन 60-70 रूपये वेतन पर सारे दिन फावड़ा चलाता है, पत्थर तोड़ता, खाइयां खोदता है, वहीं आप आराम से भव्य भवनों में बैठकर प्रतिदिन लगभग 700-800, तो राष्ट्रपति लगभग 2-3 हजार प्रतिदिन लेता है। तब ब्राह्मणत्व वा क्षत्रियत्व का कर्म करने वाले से शूद्र (श्रमिक) क्या आज भी नीचा हर प्रकार से नहीं है? आपके तथाकथित प्रबुद्धों के घर सेवक को कितना वेतन व सम्मान मिलता है? समाज के सेवक को क्या वेतन

देते हो, यह देखो, फिर समानता की वकालत करो। जहाँ 'नीच' शब्द दुराचारी, पतित व्यक्ति को कह सकते हैं, वहीं 'नीच' शब्द निम्न, नीचा आदि का ही अपभ्रंश है। तब यह कैसा तमाशा कि निम्न श्रेणी, उच्च श्रेणी हर जगह प्रामाणिक रूप में विद्यमान हो, वहीं सत्यार्थ प्रकाश में इसके प्रचलित अपभ्रंश शब्द को लेकर बवाल खड़ा किया जा रहा है। एक शब्द न केवल संदर्भ विशेष में अर्थ बदल लेता है, बल्कि वह स्वर भेद से भी नये-२ अर्थ धारण करता है। तब शब्द मात्र को पकड़ कर असंगत अर्थ लगाकर अपने समानता के व्यवहार का ढोंग कर प्रसिद्धि की इच्छा होना क्या पागलपन भरा पाखण्ड नहीं है? हाँ, दयानन्द जन्मना उच्च-निम्न, जिसका ही अपभ्रंश रूप ऊँच-नीच है, मानते तो आपको कहने का अवसर था। अब 'अनार्य' शब्द को लेते हैं। पहिले तो आपको समझ लेना चाहिए कि ऋषि ने शूद्र को कहीं भी बुरा नहीं कहा है। प्रथम तो एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मनु वा दयानन्द की दृष्टि में अनपढ़ श्रमिक परन्तु जो धार्मिक हो, को ही शूद्र कहते हैं। आज अनेक उच्च शिक्षित, उच्च पदस्थ लोग भी स्वयं को दलित, पिछड़ा वा आदिवासी वा शूद्र कहकर आरक्षण की भीख मांगने का प्रयास कर रहे हैं। इस तथाकथित वर्गविहीन समाज बनाने के पाखण्ड ने जन्मना शूद्र पैदा कर दिये हैं और नित नये वर्ग शूद्र बनने की होड़ में लगे हैं। आश्चर्य है कि जो वर्ग शिल्पकार वा व्यापारी होने से वैश्य वर्ण में आने चाहिए उन्हें पाखण्डी ब्राह्मणों ने शूद्र बनाया था और अब वे राष्ट्रपति, नेता, उच्च शिक्षाविद् वा प्रशासनिक अधिकारी बन कर भी शूद्र के खोल को ओढ़े रखकर भीख का कटोरा लिए आरक्षण मांग रहे हैं। दुःख इस बात का है वे पाखण्डी भिखारी ही जन्मना ऊँच-नीच को भगवान् मनु पर आरोपित करके उनका विरोध कर रहे हैं। इनमें से कोई कर्मणा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने को कहलाना चाहता नहीं, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें भीख कौन देगा? वे ही समाजों में गर्व के साथ अपनी जाति मनुष्य वा आर्य बताते हैं। यह दुमुंही नीति अनेक प्रबुद्ध कहाने वाले नकली आर्यों की भी होगी। **यहाँ जहाँ भी शूद्र की चर्चा आवे, तो अनपढ़ धार्मिक व श्रमिक को ही समझना चाहिए** न कि कोई श्री के. आर. नारायण, कु. मायावती, वा अन्य कोई नेता, छात्र वा अधिकारी अपने को शूद्र समझे और समझकर दुराग्रहवश सत्य को नकारने का प्रयास करे।

सत्यार्थ प्रकाश के जिस प्रकरण पर आपत्ति की जाती है, उस पर विचार करते हैं। प्रकरण निम्नानुसार है-

प्रश्न- आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक?

उत्तर- एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् 'विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः' यह ऋग्वेद का वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य, विद्वान्, देव और दुष्टों को दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से 'आर्य्य' और 'दस्यु' दो नाम हुए। 'उत शूद्रे उतार्ये'- ऋग्वेद वचन। आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम आर्य्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।'' (सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास)
लगभग ऐसा ही प्रकरण इसी समुल्लास में अगले पृष्ठ पर है-

पूर्वोक्त वेद प्रमाणों को उद्धृत करते हुए ऋषि लिखते हैं-

''यह भी वेद प्रमाण है- यह लिख चुके हैं कि आर्य्य नाम धार्मिक, विद्वान्, आप्त पुरुषों का और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजों का नाम आर्य्य और शूद्र का नाम अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी है।''

इसका सार यह है कि परमात्मा की सृष्टि में एक जाति मनुष्य थी वा मनुष्य के रूप में जन्म से पैदा होता है। फिर यही मनुष्य आगे चलकर गुणभेद से दो भागों में बंटा-

मनुष्य → आर्य (धार्मिक, विद्वान्, देव आदि)
मनुष्य → दस्यु (दुष्ट, डाकू, अधार्मिक आदि)

पुनः

आर्य → विद्वान् + धार्मिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)

आर्य → अविद्वान् (मूर्ख) + धार्मिक (शूद्र, अनार्य्य, अनाड़ी)

यह ध्यातव्य है कि आर्य की मुख्य पहिचान धार्मिकता ही है न कि विद्वान् होना। ऐसा न होने पर दस्यु से अलग नहीं हो पायेगा। आर्यों में शूद्र धार्मिक तो हैं परन्तु मूर्ख होने से अनाड़ी हो गया, जो अनार्य का अपभ्रष्ट रूप है। स्मरण रहे अनार्य का अर्थ दुष्ट, डाकू व निन्दनीय नहीं है। यह शूद्र, दस्यु की अपेक्षा आर्य है और द्विजों की अपेक्षा अनार्य। इसी कारण श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में अर्जुन को गलितगात्र होने के कारण अनार्य कहकर संबोधित किया है। इसमें आपत्ति की बात क्या है? कोई कहे कि आर्य का एक भेद आर्य व दूसरा अनार्य कैसे? हाँ, मनुष्य के दो भेद 'आर्य' और 'दस्यु' हो सकते हैं। मैं पूछता हूँ कि रामायण और महाभारत काल में मनुष्य के राक्षस, किन्नर, देव, गन्धर्व, गृध, वानर, नाग, ऋक्ष, मनुष्य अनेक कैसे हुए? यहाँ भी मनुष्यों के भेद में एक नया भेद 'मनुष्य' भी है, शेष सब अन्य। तब उन्हें क्या कोई दूसरा प्राणी मान लिया जाये? नहीं, बल्कि उनमें मानवता का भाग कम वा कुछ भेद विशेष है, इसलिए उनके अन्य नाम हैं। राम, लक्ष्मण, कौरव, पाण्डव आदि को मनुष्य, जबकि इन्द्र, ब्रह्मा, शिव आदि को देव, रावण, खर, बक आदि को राक्षस, हनुमान्, सुग्रीव को वानर आदि कहा है। इसी प्रकार आर्यों से शूद्र का अलग विभाग समझना चाहिए। वर्तमान में मैं डा. अरोड़ा जी को पूछता हूँ कि कोई आपको पूछे कि आपके महाविद्यालय में कितना स्टाफ है? तो माना आप बतायें कि 200 है। अब इस स्टाफ में प्राचार्य, अध्यापक, लिपिक, च.श्रे.क. सभी आ गये परन्तु आपका वेतन बिल बनेगा, तो अधिकारी का अलग तथा स्टाफ (कर्मचारी) का अलग बनेगा। यहाँ आपको स्टाफ नहीं कहेंगे बल्कि राजपत्रित अधिकारी कहेंगे, कर्मचारी कहने में आपको लज्जा भी आयेगी। यह भेद कैसे हुआ कि स्टाफ के दो भेदों में एक भाग स्टाफ और एक भाग गैरस्टाफ। तब आर्य का भेद आर्य (द्विज) व अनार्य (शूद्र) कैसे नहीं हो सकेगा?

अब 'भंगी', 'चमार' शब्दों पर विचार करते हैं। प्रथम ध्यातव्य है कि कोई शब्द किस सन्दर्भ तथा परिस्थिति में प्रयुक्त हुआ है, यह

विचार करना आवश्यक होता है। आज जो वर्ग सफाई का काम करता है, उसे उस समय भारत भर में ‘भंगी’ कहा करते थे। काम भी मैला ढोना होता था, इस कारण शब्द भी बुरा हो गया। वैसे इस शब्द का अर्थ- पतित (विद्या आदि से) हताश, पराभूत, पराजित आदि होता है। उस समय कर्म वा विद्या की दृष्टि से ऐसा ही था। बेचारा हताश, निराश व नितान्त अनपढ़ था। धीरे-२ यह शब्द ‘गाली’ का रूप हो गया होगा। गांधी जी को यह शब्द बुरा लगा, तो सम्मानजनक शब्द ‘हरिजन’ का नवीन आविष्कार किया परन्तु डा. अम्बेडकर ने इसे भी अच्छा नहीं माना, बल्कि उपहासजनक बताकर ‘दलित’ शब्द स्वीकार किया। तब ‘हरिजन’ शब्द बुरा हो गया। आज ये सभी शब्द बुरे समझे जाते हैं और ‘वाल्मीकि’ यह नया शब्द प्रयोग किया जा रहा है। इसका आशय है कि शब्द विशेष प्रयोग करने की शैली, तत्कालीन परिस्थिति तथा प्रयोक्ता की भावना से अच्छा व बुरा हो सकता है। इस कारण उस समय ऋषि का प्रयोग बुरा नहीं था। इसी प्रकार ‘चमार’ शब्द ‘चर्मकार’ का अपभ्रष्ट रूप है। ‘चमार’ भी उस समय अनपढ़ तथा चमड़े का ही धंधा करने वाला होता था। लोहे का जो सम्बंध लुहार, सोने का सुनार, कुम्भ का कुम्भकार से है, वैसा ही सम्बंध चमड़े का चमार से है। आप सम्भवतः श्री के.आर. नारायण जी को ‘चमार’ मानती हैं। वे भी अपने को दलित कहते हैं। लोग भी ऐसा ही कहकर तुष्टिकरण का मार्ग अपनाते हैं परन्तु हमारा दयानन्द तो उन्हें क्षत्रिय कहेगा। कोई बताये कि चर्म का व्यवसायी चर्मकार नहीं, तो क्या कहायेगा? अब इन दोनों शब्दों का प्रयोग महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास में निम्न प्रकार किया है-

भूतप्रेत विषय में वे लिखते हैं- ‘‘उसका ओषधि सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भंगी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल-कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा-धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बांधते-बंधवाते फिरते हैं।’’

इसमें पाखण्डी व ठगों को ऐसा लिखा क्यों अनुचित लगा है? भंगी, चमार शब्दों पर लिख चुका हूँ। **‘चमार’** शब्द उस समय बुरा नहीं था और न इसका अर्थ ही बुरा है परन्तु इसे हेय समझा जाता

गया और आज जाटव, मेघवाल, रैगर व जटिया आदि अनेक नाम प्रचलित हो गये। यहाँ ऋषि का आशय यह है–कि कोई पढ़ा लिखा व्यक्ति भूतप्रेत, जो रोग विशेष वा पाखण्ड हैं, के विषय में नितान्त अनपढ़, धूर्त और ठगों का विश्वास करता है और चिकित्सा नहीं करवाता, तब ऋषि ने ऐसा लिखा है, तो अनुचित क्या है? यदि आप किसी बौद्धिक कार्य में विद्वानों की सलाह नहीं मानकर शूद्र अर्थात् अपने श्रमिक वा अन्य किसी धूर्त पर विश्वास करें, तो क्या यह आपके लिए भी उचित रहेगा? तब ऋषि की आलोचना का आधार आपके पास क्या है?

आपका यह कहना कि शूद्र को संहिता भाग न पढ़ाने का शुद्ध आर्यों, दयानन्दियों तथा दयानन्द का मत प्रबुद्धों को मान्य नहीं। मैं इस विषय में स्पष्ट कर दूँ कि यह मत न तो दयानन्द का है ओर न दयानन्दियों का। सत्यार्थ प्रकाश में जहाँ यह प्रकरण है, वहाँ अधिकारानधिकार का प्रसंग ही नहीं है। वहाँ प्रसंग अग्निहोत्र का चल रहा है तथा पश्चात् ब्रह्मचर्य सम्बंधी विषय है। बीच में सुश्रुत का प्रमाण देते हुए ऋषि ने लिखा है– ''कुलीन शुभ लक्षणयुक्त शूद्र हो, तो उसको मंत्र संहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे, शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करे। यह मत अनेक आचार्यों का है।'' (सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास) यहाँ ऋषि ने सुश्रुत व अन्य आचार्यों का मत दिया है परन्तु स्वयं ने इस पर न कोई प्रतिक्रिया व्यक्त की है और न स्वयं का मन्तव्य ही स्पष्ट किया है। इसका कारण यह है कि यही प्रसंग आगे आयेगा और वहीं विस्तार से स्पष्टीकरण दिया भी है। परन्तु डा. अरोड़ा वा अन्य द्वेषी क्षुद्रबुद्धि (न कि प्रबुद्ध) लोगों को मानो रामबाण मिल गया। देखो, वहाँ लिखा है–

प्रश्न– क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़े? जो ये पढ़ेंगे, तो हम फिर क्या करेंगे? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है।

उत्तर– सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को वेद पढ़ने–पढ़ाने का अधिकार है। और तुम कुंआ में पड़ो .... और सब मनुष्यों के वेदादि पढ़ने–सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के २६वें अध्याय में दूसरा मंत्र है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।। यजुर्वेद 26/2"

इसका अर्थ सत्यार्थ प्रकाश व वेद भाष्य में देख लें।
इस मंत्र पर व्याख्यान करते हुए ऋषि लिखते हैं-

"क्या परमेश्वर शूद्रों का भला नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों को पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने, सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्रेन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं। और जहाँ कहीं निषेध किया है, उसका अभिप्राय यह है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है।"

इतना स्पष्ट एवं कठोर उत्तर कि तुम कुंए में पड़ो ...., देने पर भी आपकी बुद्धि में आया विकार व द्वेष की कालिमा नहीं धुल पायी! ऋषि ने उपरिवर्णित सुश्रुत के प्रमाण का स्पष्टीकरण भी साथ में दे दिया है।

मैं पूछता हूँ कि कोई कहे कि वर्णमाला का ज्ञान वा गणित के जोड़, बाकी आदि नहीं जानने वाला यदि आपसे आइंस्टीन का सापेक्षता का सिद्धान्त पढ़ना चाहे, तो क्या आप यह नहीं कहेंगी कि तुम्हें यह पढ़ने की योग्यता नहीं है और न अधिकार। यदि पढ़ावे तो 'भैंस के आगे बीन' की कहावत चरितार्थ होगी। तब इसे भेदभाव कैसे माना जा सकता है? आशा है अब बुद्धि कपाट (आपके) खुल जायेंगे।

अब चर्चा करते हैं- उपनयन संस्कार के अधिकार की-
ऋषि ने पूर्वोक्त (सुश्रुत) प्रकरण में ऋषि ने अपना मन्तव्य स्पष्ट नहीं किया। इस विषय में निर्णय वेदाधिकार विषय में समझ लेना चाहिए, क्योंकि उपनयन बिना वेद पढ़ने का अधिकार ही नहीं मिल

पाता। पुनरपि डा. अरोड़ा के पूर्वाग्रह की चिकित्सा हेतु ऋषि का स्पष्ट मन्तव्य भी दे रहा हूँ–

''द्विज अपने सन्तानों को उपनयन करके आचार्य कुल में अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करने वाली हो, वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें। और शूद्रादि वर्ण को उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।'' (सत्यार्थ प्रकाश, द्वितीय समुल्लास)

''प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्य कुल में हो।'' (सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास)

इन दोनों पर विचारने पर निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होता है–

1. द्विज अर्थात् जो वेदविद्या के ज्ञाता हैं, वे बच्चों का संस्कार घर में ही करके आचार्य कुल में भेज दें।
2. शूद्र अर्थात् अनपढ़ परन्तु ईर्ष्यारहित, सेवाभावी, धार्मिक सेवक अपने बच्चों का यज्ञोपवीत संस्कार न करें। ऐसा इस कारण लिखा कि वे संस्कार कराने की योग्यता ही नहीं रखते हैं और बिना योग्यता अधिकार नहीं मिलता। पुनरपि बच्चा, जो अभी योग्यायोग्य की कसौटी पर नहीं कसा गया, आचार्य कुल में अवश्य भेजा जा रहा है अर्थात् उसे भी पढ़ने का अवसर मिलने का पूरा अधिकार है।
3. उपनयन संस्कार स्वगृह के अतिरिक्त आचार्य द्वारा गुरुकुल में भी किया जाता है, तब वहाँ आचार्य सब बालकों की योग्यता देखकर संस्कार करा ही देगा। यदि कोई शूद्रत्व के गुण ही रखता है, तो नहीं करायेगा। यह सर्वथा उचित भी है कि जो यज्ञोपवीत के कर्तव्य का निर्वहन नहीं कर सकता, उसे दिया ही क्यों जावे? आज जिस प्रकार मांसभोजी राक्षसों, लम्पटों, कामियों, मदिरा पीने वालों, दुष्टों को प्रसाद की भांति यज्ञोपवीत बिना किसी परिचय के बांट दिया जाता है, ऐसा उचित नहीं है। इसी कारण ऋषियों का ऐसा विधान नहीं है। इस प्रकार शूद्रकुलोत्पन्न परन्तु योग्य बालक का यज्ञोपवीत एक बार अर्थात् आचार्य कुल में ही होगा, वहीं द्विज

कुलोत्पन्न योग्य बालक का यज्ञोपवीत दो बार (स्वगृह व गुरुकुल में) तथा द्विज कुलोत्पन्न परन्तु अयोग्य एवं शूद्रकुलोत्पन्न अयोग्य का यज्ञोपवीत क्रमशः एक बार (स्वगृह) एवं एक बार भी नहीं होगा। इसके साथ इतना और समझ लेना चाहिए कि द्विज के बालक के विद्या ग्रहण की योग्यता की सम्भावना शूद्र के बालक की अपेक्षा अधिक रहेगी क्योंकि प्रथम तो माता-पिता के विद्वान् होने, गृह में विद्या का संस्कार व परिवेश होने तथा आनुवंशिक गुणों (वैज्ञानिकों के नवीन मतानुसार 75 प्रतिशत संस्कार जीन्स द्वारा सन्तति में आते हैं) के होने से। जैसे उच्च शिक्षितों के बच्चे प्रायः उच्च शिक्षा में आगे रहते हैं, अपेक्षया अशिक्षितों के बच्चों के। परन्तु इसका आशय यह नहीं कि इसका विपरीत सम्भव नहीं। सम्भव अवश्य है परन्तु अपेक्षया कम। इस प्रकार वर्ण चुनने के अवसर प्राप्त करने का अधिकार सबको बराबर परन्तु वर्ण प्राप्त करने का अधिकार योग्यतानुसार। आज भी कलेक्टर बनने का अधिकार सबको परन्तु इसका आशय यह नहीं कि जो चाहे, उसे कलेक्टर बना दिया जायेगा। इसकी परीक्षा आई.ए.एस. में भी बैठने हेतु स्नातक न्यूनतम चाहिए परन्तु स्नातक होने पर भी बात पूरी नहीं होती। आई.ए.एस. की सभी परीक्षायें उत्तीर्ण हो, तदुपरान्त साक्षात्कार में भी उत्तीर्ण हो, तब कहीं कलेक्टर वा अन्य उच्चाधिकारी बन पायेगा। जब आज भी समान अधिकार नहीं बल्कि यथायोग्यतावाद है, फिर दयानन्द को दोषी मानकर पागलपन को क्यों उजागर किया गया है? अब तथाकथित शूद्र हितैषियों वा जन्मना जात-पात मिटाने का पाखण्ड करने वालों, भगवान् मनु वा भगवान् दयानन्द की आलोचना करने वालों को चुनौती दे रहा हूँ कि जन्मना आरक्षण की भीख मांगने वाले, इसके लिए जन्मना जाति प्रमाण पत्र लेने हेतु कार्यालयों में चक्कर लगाने वाले, स्वार्थ हेतु स्वयं को दलित, पिछड़ा कहने वाले क्या समान अधिकार की बात करने के अधिकारी हैं? दलितों के नाम की राजनीति करना सरल है परन्तु समानता का आचरण करना उतना ही कठिन है। अब डा. अरोड़ा का मूर्तिपूजा प्रकरण लेते हैं। वे लिखती हैं-

"मूर्तिपूजा के विषय में प्रबुद्ध आर्यों का दृष्टिकोण शुद्ध आर्यों से भिन्न है। यदि स्वामी दयानन्द के वचनों को ही प्रमाण माना जाये, तो मूर्तिपूजा घोर पाप है। एक निराकार ईश्वर की उपासना ही करनी योग्य है। यह बात वैदिक मतानुकूल नहीं है। वेद के किसी भी मंत्र में या किसी स्मृति में यह नहीं लिखा कि मूर्तिपूजा पाप है। वेद में अग्नि, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, वनस्पति आदि को देवता कहा है। इन देवों की उपासना शारीरिक, मानसिक व आत्मिक उन्नति में सहायक है.......एक ईश्वर की उपासना और मूर्तिपूजा का विरोध सामी (यहूदी, ईसाई और इस्लाम) मतों की देन है। इन्हीं के रौब में आकर स्वामी दयानन्द जी ने मूर्तिपूजा को पाप कहा और लिखा है.....।"

समीक्षा– लेखिका का दम्भ देखिये कि सारे वेद व स्मृतियों पर अधिकार जता दिया। आर्य जगत् के अनार्य सम्पादक श्री उदयवीर जी विराज ने 'चोरी सीना जोरी' की कहावत चरितार्थ करते हुए मूर्तिपूजा के विरोध में हमसे वैदिक प्रमाण मांगे हैं। (देखें– आर्य जगत् 7 जुलाई 2002, पृष्ठ– 6 पर पत्र जगत् में)।

प्रथम तो मैं पूछता हूँ कि मूर्तिपूजा के समर्थन में तो अब तक संसार का कोई विद्वान् एक प्रमाण भी न दे सका। तब ये विराज वा अरोड़ा कौन हैं? परन्तु हमसे विरोध में 20–25 प्रमाण सम्पादक ने मांगे हैं। इस विषय में सत्यार्थ प्रकाश के 11 वें समुल्लास में अच्छा प्रकाश डाला है।

प्रश्न– मूर्तिपूजा में पुण्य नहीं, तो पाप तो नहीं है।

उत्तर– कर्म दो ही प्रकार के होते हैं– 1. विहित– जो कर्तव्यता से वेद में सत्य भाषणादि प्रतिपादित हैं। दूसरा निषिद्ध– जो अकर्तव्यता से मिथ्या भाषणादि वेद में निषिद्ध हैं। जैसे विहित का अनुष्ठान करना धर्म, उसका न करना अधर्म है, वैसे ही निषिद्ध कर्म का करना अधर्म और न करना धर्म है। जब वेद में निषिद्ध मूर्तिपूजादि कर्म तुम करते हो, तो पापी क्यों नहीं?

साधारण बुद्धि की बात है कि वेद **'न तस्य प्रतिमाऽस्ति'** 32/3, **'अकायमव्रणमस्नाविरम्'** यजु. 40/4, **'अपादिन्द्रो'** ऋ. यजु. 8/69/11, **'विश्वतश्चक्षु विश्वतो मुखो विश्वतो बाहु विश्वतस्पात्'** यजु. 17/19, **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** यजु. 40/3, **'नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्'** यजु. 32/2, **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** यजु. 31/1 अनेकत्र ईश्वर को निराकार, प्रतिमारहित तथा सर्वव्यापक कह रहा है। तब उसे प्रतिमा वाला मानकर पूजना असत् विचार, असत् व्यवहार व असत् कर्म हुआ वा नहीं? वेद विरुद्ध हुआ वा नहीं? फिर असत्य का आचरण पाप होता है। असत्य आचरण वाले को वेद ने अनेकत्र पापी कहा है। देखो, उन पापियों की गति–

1. **असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता,** अथर्व. 8/4/8
   अर्थात् हे इन्द्र! असत्यवादी का सर्वनाश हो।

2. **तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत्,** अथर्व. 8/4/12
   अर्थात् ईश्वर! सत्य की रक्षा व असत्य का नाश करता है।

3. **यदि वाहमनृतदेवो अस्मि,** अथर्व. 8/4/14
   यहाँ झूठ बोलने वाले के नाश का संकेत है।

4. **सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष,** अथर्व. 8/3/21
   अर्थात् सत्य का नाश करने वाले अचेत को जला दे।

अब भी क्या पाप नहीं मानोगे? कोई कहे कि कबूतर नामक पक्षी ही, मनुष्य है ओर दूसरे स्थान पर न्यायाधीश कहे कि जो मिथ्याभाषी होगा, वह पापी व दण्डनीय होगा। तब समस्त प्रबुद्धो एवं सम्पादक व लेखिका! बताओ कबूतर को मनुष्य बताने वाला पापी व दण्डनीय हुआ वा नहीं, जबकि उसे दण्डनीय सीधा बताया ही नहीं गया। मैं प्रबुद्ध श्री उदयवीर जी विराज वा डा. साहिबा से पूछता हूँ कि आप कहें, 'हम उच्च शिक्षित व सदाचारी मनुष्य हैं।' दूसरे स्थान पर कहें, 'जो विपरीत आचरण करेगा, उसे पापी व दण्डनीय माना

जायेगा।' तब कोई मनचला व्यक्ति आपको महामूर्ख, दुराचारी, वानर, कच्छप, सर्प, वराह आदि बताकर आपके साथ अपनी मिथ्या मान्यता के अनुसार आचरण करे, तो आप उसे पापी मानकर क्या दण्ड नहीं देंगे? पुनः और समझिये-

आप किसी छात्र को कहें- "समय का पालन करो। कक्षा में अध्ययन ही करो। वस्त्र यथावत् पहिनो। परस्पर मिलकर रहो।" यदि कोई छात्र असमय आये व जाये। कक्षा में शोर मचाये। पेण्ट के स्थान पर कमीज और कमीज के स्थान पर पेण्ट लटकाये। सबसे लड़ाई-बखेड़ा करे। तब आपकी दृष्टि में वह पापी व दण्डनीय हुआ वा नहीं? यदि हाँ, तो मैं आप दोनों मान्य अहंकारी प्रबुद्धों से प्रमाण 20-25 नहीं, बल्कि एक ही प्रमाण मानूंगा कि कहाँ आपने ऐसे व्यवहार करने का निषेध किया है? कहो! विराज महाशय वा प्राध्यापिका महोदया! हमसे मूर्तिपूजा को पाप बताने वाले 20-25 प्रमाण मांगते हो व मूर्तिपूजा को वेद के अनुकूल मानते हो? अरे महानुभावो! अपने अहंकार को त्यागकर देखो, द्वेषी, पापी भावना का उपनेत्र उतार कर ध्यान से देखो। वेद में जैसा ईश्वर बताया, उसके विपरीत उसे मनुष्य, पशु, पक्षी मानकर विपरीताचरण कर अपमानित कर पाप किया, तो उसे दण्ड क्यों नहीं मिलेगा? कितने प्रमाण दूं आपकी पाश्चात्यानुवर्तिनी बुद्धि क्या समझेगी? अनेकत्र वेद ने कहा कि वह एक है, उसी के अनेक नाम हैं, तदपि आपने दयानन्द पर यह आक्षेप लगाया कि ईसाई, मुसलमानों के रौब में आकर दयानन्द ने एकेश्वरवाद का समर्थन व मूर्तिपूजा का विरोध किया। आपको यह लिखने में तनिक भी लज्जा नहीं आयी! मैं पूछता हूँ कि ईसाई और मुसलमानों का खण्डन (ऋषि ने) क्या आपके पुरखों, जो बड़े बलशाली व ऐश्वर्यवान् मूर्तिपूजक होंगे, के डर से किया था? जरा बताओ, उन पुरखों के नाम ताकि देखें इस नवीन इतिहास के स्वरूप को (?) याद रखो मूर्तिपूजा भले की कम पाप हो परन्तु आपका यह द्वेषपूर्ण व्यवहार घोर पाप है।

आगे आपका लिखना है-

"प्रबुद्ध आर्य समाजी उदार है। शाकाहार और मांसाहार के विषय में भी उनके विचार शुद्ध आर्य समाजियों से भिन्न हैं। ....

.. मांसाहार से आर्य होने और न होने का कुछ सम्बंध नहीं है। धर्म मन की वस्तु है, तन की नहीं। अथर्ववेद के ९वें काण्ड में सूक्त 6 के पर्याय 3 व 4 में अतिथि को मांस खिलाने के लाभ और न खिलाने के दोष विस्तार से बताये हैं। अतः शाकाहार को आर्यत्व से जोड़ना निरर्थक है।''

समीक्षा– इससे सिद्ध हुआ कि लेखिका उसी पाश्चात्य कथित वेदविदों वा सायण आदि की अनुगामिनी है, जिसका प्रचार आजकल अनेक अंग्रेजी पत्र, पत्रिकायें कर रहे हैं। सम्पादक ने भी मांसाहार के विरोध में वेद प्रमाण मांगकर स्वयं को मांसभक्षी सिद्ध किया है वा मांस समर्थक। लेखिका को 'उदार' शब्द का प्रयोग करने में जरा भी लज्जा नहीं आयी। जो क्षुद्रतम जीवों की भी हिंसा नहीं करता, वह शाकाहारी अनुदार और जिन राक्षसवृत्ति के लोगों ने अनेक पशु पक्षियों को मार–२ कर अपने उदर इन निर्दोष प्राणियों के श्मशान स्थल बना लिये हैं, वे उदार व दयालु हो गये? लगता है लेखिका को सन्निपात हो गया है वा मानसिक उन्माद, जिसके वशीभूत अन्यथा बड़बड़ाया है। मैं इन दोनों श्रीमन्तों से पूछता हूँ कि कोई तथाकथित उदार (?) प्रबुद्ध मांसभोजी दया (?) के वशीभूत होकर आपके साथ उदारता (?) दिखाकर बकरे–मूर्गे–सूअर के साथ आपका मांस प्राप्त करने का प्रयास करे, तब आपकी प्रबुद्धि उसे उदार कहेगी वा क्रूर दुष्ट मानकर उसका प्रतिकार करेगी? क्या मनुष्येतर प्राणियों को मारना उदारता और मनुष्य का मांस खाना क्रूरता है? यह कौन सा धर्म है? अरे किसी प्रबुद्ध नामधारी को मांस ही खाना है, तो मलमूत्र भोजी सूअर अथवा बकरे, मुर्गे, हिरन, कछुवा, मछली, कुत्ते वा सांप को ही क्यों खाये? सुन्दर मेवा, मिष्ठान, फलादि खाने वाले मनुष्य का ठीक रहेगा और मनुष्यों में भी तथाकथित प्रबुद्ध का अच्छा रहे, जिससे वह भी बुद्धिमान् हो जाये और आप जैसों का हो, तो कहना ही क्या, जिससे दयानन्द वा अन्य ऋषियों की मेधा का भी मदचूर करने वाला प्रज्ञावान् बन जाये? कहो! क्या खूब रहेगा? लेखिका की दर्शन की योग्यता देखिये– ''धर्म मन की वस्तु है, तन की नहीं'' मैं पूछता हूँ कि तन से कुछ भी करो, उसको अधर्म नहीं कहा जायेगा क्या? क्या मन के बिना तन और तन के अभाव में सामान्य स्थिति में मन कुछ कर पायेगा? क्या आत्मा के अभाव में दोनों ही कुछ कर

सकते हैं? तब इनका पारस्परिक सम्बंध नकारने का पागलपन कैसे सूझा? मैं पूछता हूँ कि यदि मांस खाना तन का काम है, अतः धर्म से इसका कोई सम्बंध नहीं, तब व्यभिचार करना, चोरी करना, डाका डालना, जुआ खेलना, मिथ्याचार करना, अपशब्द बोलना क्या ये भी तन के कर्म होने से अधर्म नहीं होंगे? तब आपका काल्पनिक वा स्वप्नलोक का दर्शन किसे अधर्म मानता है?

क्या श्री उदयवीर महाशय! अब भी प्रमाण मांगोगे? तो वह भी लीजिए–

१. **'इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्'** यजुर्वेद 13/47
इस दो खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

२. **'इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्'** यजु. 13/48
इस एक खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

३. **'मा नो हिंसिष्ट द्विपदो मा चतुष्पदः'** अथर्व. 11/2/1
हमारे मनुष्यों और पशुओं को नष्ट न करो।

४. **'यजमानस्य पशून् पाहि'** यजु. 1/1
यजमान् के पशुओं की रक्षा कर।

5. **'अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य'** ऋ. 1/18/3
हिंसक मनुष्य की विनाशकारी शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाये।

6. **'मा स्रेधत'** ऋ. 7/32/9
अर्थात् हिंसा मत करो।

७. **'प्रजाः तन्वा मा हिंसीः'** यजु. 12/32
शरीर से प्रजाओं को मत मार।

८. **'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'** यजु. 36/12
मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ।

६. **'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'** यजु. 36/12
हम मित्र की दृष्टि से देखें।

अज्ञानी मांसभोजी लेखिका महोदया वा सम्पादक जी! क्या और प्रमाण चाहिए। यदि हाँ, तो कुछ अपनी आँखों से भी देखो। हमारे ही आंख नहीं हैं, आपके भी हैं। क्या हिंसा बिना मांस मिलेगा? यदि हिंसा करो, तो वेदविरुद्ध व दण्डनीय अपराध होगा। ओ, आँखों वाले प्रबुद्धो! देखो, वेदों में अनेकत्र हिंसक दुष्टों को पीस-२ कर मारने का आदेश है। हिंसक राक्षसों को पीस-२ कर ही आर्य राम ने मारा था। क्या वे ही राक्षस अब जन्म लेकर आपके प्रशंसा पात्र के रूप में तो नहीं आ गये हैं? सुनो! मनुष्य कब पशुओं को मारता है-

''यत्र वि जायतेयमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रूशती'' अथर्व. 3/28/1 जिस अवस्था में बुद्धि विशेष बिगड़ जाती है। तब शस्त्रघात से मारती हुई तथा अन्य उपायों से हत्या करती हुई पशुओं को नष्ट करती है। कहो, उदयवीर महाशय वा लेखिका महोदया! आप तथा आपके द्वारा परिभाषित वा प्रशंसित प्रबुद्धों की बुद्धि विशेष रूपेण बिगड़ तो नहीं गयी है? अन्यथा क्यों मांसाहार को उचित बताते और इसके विरुद्ध वेद के प्रमाण मांगते?

इस अज्ञानी लेखिका ने अथर्ववेद में मांस भक्षण का प्रमाण दिया है परन्तु लगता ऐसा है कि स्वयं उसने इस प्रकरण को पढ़ा तथा विचारा नहीं है। देखो, वहाँ क्या लिखा है-

''प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति।'' अथर्व. 9/6 (पर्याय) 3/4 अर्थात् वह गृहस्थ निश्चय करके प्रजा और पशुओं का भक्षण अर्थात् नाश करता है, जो अतिथि से पहिले खाता है। इसका तात्पर्य हुआ जो गृहस्थ अतिथि से पूर्व भोजन कर लेता है उसके प्रजा व पशु नष्ट होते हैं। यदि कोई कहे कि भक्षण का अर्थ नाश होना नहीं बल्कि खाना होता है। तब भी मैं कहूँगा कि उसका अर्थ हुआ कि जो अतिथि से पूर्व भोजन कर लेता है वह मानो अपनी प्रजा और पशुओं को खाता है। इसका भी आशय यही

हुआ कि पशु खाना पाप होता है। जैसे कोई कहे, 'यदि मैं मिथ्याचार करूं, तो मानो गोरक्त का पान करूं' इसका अर्थ आपकी प्रबुद्धि क्या करेगी, यह तो आप लोग जानें परन्तु अल्पबुद्धि वाला भी यही कहेगा कि यहाँ गोरक्त पान का विधान नहीं है, बल्कि उसे पाप कहा है। ऐसा लगता है कि आपकी बुद्धि को यहाँ भी लकवा मार गया है और वह भी अधिक मांस खाने वा उसी के स्वाद में मग्न रहने वा न मिलने पर शोकग्रस्त रहने से हो गया होगा। दूसरे प्रकार विचारें- यदि भक्षण का अर्थ खाना ही हो, तो प्रजा का भक्षण क्या अपनी सन्तान को खाना होगा वा किसी भी पशु को? इस पूरे प्रकरण में इष्ट, पूर्त, पराक्रम, बुद्धि, कीर्ति, यश, ऐश्वर्य आदि के भक्षण का वर्णन है, तो क्या इनको खाया जा सकता है? आपने तो इनका स्वाद चखा ही होगा? ऐसा नहीं होता, तो आपमें बुद्धि होती ही। पता नहीं अपने विद्यार्थियों को पढ़ातीं क्या व कैसे हैं? इतने प्रबल प्रमाणों के रहते अगले पर्याय में 'मांसम्' का अर्थ मांस करना मतिभ्रष्टता ही होगी। यहाँ मनन साधक (बुद्धिवर्धक) पदार्थ का नाम मांस है। क्या एक शब्द के अनेक अर्थ नहीं होते? तब क्या प्रकरणानुकूल अर्थ का ग्रहण करना नहीं चाहिए? फिर आपको क्या रोग लगा है, जो उलटा ही दिखायी दे रहा है?

हे प्रबुद्ध नाम वालो! लेख क्या, इस पर एक पुस्तक लिखी जा सकती परन्तु आप जैसों के लिए यह लेख ही पर्याप्त हैं। इसी का उत्तर दे देना, यदि आपमें साहस है, तो। सम्पादक जी से विशेष अनुरोध है कि इसे प्रकाशित करने की कृपा करें। भाषा कठोर व व्यंग्योक्तिपूर्ण हो गयी है, जो सामान्यतया उचित नहीं कही जा सकती परन्तु हमारे गुरूणां गुरुः दयानन्द पर दोषारोपण करने वाले दुस्साहसी एवं अज्ञानी के साथ कैसे मधुर भाषा का प्रयोग होवे, यह मेरे विचार से परे की बात है। हाँ, कहीं त्रुटि हो, तो संशोधन हो सकता है।

प्रभु कृपा करें कि इन प्रबुद्धों में बुद्धि आवे और हम सभी मिलकर ऋषि की जय मनावें और ''संश्रुतेन गमेमहि। माश्रुतेन विराधिषि।''

इति शम्

कुछ अन्य सम्भावित शंकाओं का समाधान

शंका (1)– सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में महर्षि दयानन्द जी ने सूर्यादि लोकों में भी मनुष्यादि प्रजा का होना लिखा है। वर्तमान विज्ञान के अनुसार सूर्य के तल पर तापमान 4000–7000^0 C तक है। उसके भी ऊपर कोरोना नामक अत्यन्त चमकीला भाग होता है जो लगभग 2 लाख ^{0}C तक गर्म होता है। सूर्य तल पर हजारों किमी. ऊँची–२ प्रचण्ड अग्नि की ज्वालायें उठती रहती हैं। भयंकर सौर तूफान आते रहते हैं। अनेक विस्फोट होते रहते हैं। वहाँ पर किसी तत्व के एटम भी केवल आयनों के रूप में रह सकते हैं, जो स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं। इस अवस्था को प्लाज्मा अवस्था कहते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्यादि प्रजा का होना कैसे सम्भव है? ऐसी स्थिति में शरीर के अवयवों का अस्तित्व कैसे सम्भव है? यह बात सर्वथा अवैज्ञानिक व बुद्धिविरुद्ध होने से सत्यार्थ प्रकाश के ऊपर एक भारी कलंक ही प्रतीत होती है। आश्चर्य है कि विज्ञान व सत्य के महान् समर्थक महर्षि जी ने ऐसी मिथ्या बात कैसे लिख दी? आज के वैज्ञानिक युग में इस बात से उपहास के अतिरिक्त और क्या उपलब्धि हो सकती है?

समाधान– यह प्रश्न वस्तुतः अनेक उच्च स्तरीय आर्य विद्वानों को भी उलझन में डाले हैं। लगभग 12-13 वर्ष पूर्व गुरुकुल यमुनानगर (हरयाणा) के उत्सव में गया था। उस समय पूज्य श्री आचार्य बलदेव जी, कालवा ने भी मुझसे यही शंका व्यक्त की थी। उस समय मैंने यही कहा था कि अभी इस पर विचार नहीं किया है। देहरादून के पं. ईश्वरदयालु जी आर्य ने इसी बिन्दु पर समस्त आर्य जगत् को अत्यन्त असभ्य भाषा में शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी। मेरे पास भी पत्र आया था परन्तु मैंने अपने लक्ष्य की गम्भीरता को दृष्टिगत रखकर उस चुनौती को कोई महत्व नहीं दिया और किसी ने उस चुनौती पर ध्यान दिया, ऐसा मेरी जानकारी में नहीं आया परन्तु अब जबकि हमारे कुछ न्यासियों विशेषकर प्रोफेसर वसन्त कुमार जी मदनसुरे, अकोला एवं पं. विपिन बिहारी जी आर्य, मथुरा ने मेरे कुछ समय पूर्व में प्रकाशित दो लेखों को पुस्तिका के रूप में प्रकाशित

करने का विशेष आग्रह किया, तो इस प्रकार कुछ अन्य प्रश्नों पर भी संक्षिप्त उत्तर लिखने का भी आग्रह किया। इस कारण अब इसका उत्तर देने का प्रयास कर रहा हूँ।

पाठक गण! वस्तुतः आर्य समाज के विद्वानों द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण की उपेक्षा एवं वेद के वैज्ञानिक स्वरूप के तिरस्कार का यही फल होगा कि ये ऐसे प्रश्नों पर या तो मौन साधे अपमान का घूंट पीते रहें अथवा स्वयं भी प्रबुद्ध आर्यों को वेद की उपेक्षा के गर्त में धकेलने के परोक्ष भागीदार बनें। मेरे वैदिक विज्ञान अनुसंधान की विद्वानों द्वारा उपेक्षा से तो यही दुःखद सत्य प्रत्यक्ष हो रहा है। अस्तु, अब आपके प्रश्न पर आते हैं। वस्तुतः हम प्रायः अपने सामर्थ्य, परिवेश व स्वभाव से तुलना करते हुए ही अन्यों पर विचार करते हैं। हम प्रायः 0-50^0C तक के ताप में रहने के अभ्यस्त होते हैं। उस पर भी अनेक साधनों का उपयोग करके ही ऐसा कर पाते हैं, जिससे शरीर का ताप नियंत्रित रह सके। कई जीव विशेषकर ध्रुवीय प्रदेशों के जीव लगभग -50^0C वा -60^0C ताप पर भी बिना किसी साधनोपसाधनों के मस्त रहते हैं। उधर समुद्र की अत्यन्त गहराईयों में जहाँ जल का अत्यन्त दबाव रहता है, वहाँ लगभग 200^0C वा इससे भी ऊपर ताप पर उबलते जल की धारा में भी जीवों को देखा गया है। इस प्रकार लगभग -60^0C से लेकर 200^0C अर्थात् 260^0C तापान्तर के क्षेत्र में जीवों को देखा गया है। सम्भव है इससे भी बड़े तापान्तराल में भी इस अपनी परिचित पृथिवी पर ही जीवों की सत्ता हो। इस तापान्तराल पर मानव का स्वाभाविक अवस्था में रहना कदापि सम्भव नहीं। इस प्रकार के जीवों की खोज से पूर्व कोई भी इनके अस्तित्व पर शंका ही करता होगा परन्तु अब यह बात शंकास्पद नहीं रही। परन्तु कोई कहे कि इस ताप पर रहना अलग बात है और सूर्य की उपर्युक्त प्लाज्मावस्था में रहना इससे अत्यन्त भिन्न बात है। आज तो यह विषय भी बड़ा विवादित है कि क्या इस पृथिवी के बाहर अन्यत्र कहीं प्राणी रहते भी हैं वा नहीं? उड़न तस्तरी की कहानियां एवं अन्य लोकों से मनुष्य जाति के प्राणियों का इस धरती पर आने की चर्चा एक लम्बे काल से सुनी जाती रही है। अनेक वैज्ञानिकों की दृष्टि में परग्रही जीवों का अस्तित्व सिद्ध है, तो कोई मानने के लिए तैयार नहीं। वर्तमान में अपनी प्रतिभा के लिए

विश्व भर में प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंस परग्रही जीवों की सत्ता के प्रबल समर्थक हैं।

डिस्कवरी टी.वी. चैनल पर कई बार वे इस विषय में प्रबल दावा करते देखे व सुने हैं। दिनांक 09.07.10 शुक्रवार को मैंने उनको सुना। वे कह रहे थे, ''कि प्राणी जल के अभाव में -196^0C के अत्यन्त कम ताप पर तरल नाइट्रोजन पर निर्भर रह सकते हैं,'' अर्थात् बिना जल भी जीवन सम्भव है। अब तक समस्त वैज्ञानिक जगत् जीवन के लिए जल का होना अनिवार्य मानता था। जीवन की खोज में चन्द्रमा, मंगल वा दूरस्थ ग्रहों पर जल की खोज के भारी प्रयास हुए एवं अभी भी सतत ये प्रयास हो रहे हैं। अगर कहीं थोड़े भी संकेत जल की सत्ता के मिले, तो वैज्ञानिकों ने उस खोज को जीवन की खोज की दिशा में अति महत्व दिया परन्तु अब स्टीफन हॉकिंस का उपर्युक्त कथन यह संकेत कर रहा है कि जीवन के लिए जल (H_2O) का होना अनिवार्य नहीं है। तब उन प्राणियों के जल विहीन शरीर कैसे होंगे? उनके भोजन की क्या व कैसे व्यवस्था होगी? यह सब अब विचित्र हो गया है और इस वैचित्र्य को शनैः-२ विज्ञान स्वाभाविक मानने की दिशा में बढ़ रहा है। स्टीफन हॉकिंस जलविहीन प्राणी की अवधारणा से बहुत आगे बढ़कर उसी उपर्युक्त कार्यक्रम में कहते हैं- ''परग्रही जीव गैसों के बने भी हो सकते हैं, जो लगातार कड़कने वाली विद्युत् से ऊर्जा ले सकते हैं। ऐसे ग्रह बृहस्पति व शनि हो सकते हैं। उसके आगे कहते हैं कि कुछ जीव अपनी उम्र का बढ़ना रोककर अमर हो गये हों।''

मैं अब आपसे प्रश्न करना चाहूँगा कि क्या अब तक आपने कभी सोचा भी था कि हॉकिंस जैसा विश्व का महान् वैज्ञानिक प्राणियों के गैसीय शरीर की सत्ता भी मानेगा। साथ ही कुछ प्राणियों द्वारा अमर होने की सम्भावना को भी स्वीकार करेगा। हॉकिंस के मतानुसार आप सोचें, तो पायेंगे कि ऐसे परग्रही जीवों के हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क, अस्थियां, रक्त, मांस, मज्जा आदि भी नहीं होंगे, तब कैसे शरीरों की कल्पना हॉकिंस कर रहे हैं? उनकी इस कल्पना पर कोई बुद्धिजीवी, नास्तिक शंका नहीं करेगा, क्योंकि वह हॉकिंस को एक महावैज्ञानिक मानकर उनकी हर बात को प्रमाण मानेगा परन्तु वही बुद्धिजीवी महर्षि दयानन्द जी पर प्रश्न करेगा, क्योंकि

ऋषित्व उसके लिए कोई महत्व नहीं रखता। जरा सोचें कि हॉकिंस के ये परग्रही जीव विद्युत् की गड़गड़ाहट से ही ऊर्जा ले सकते हैं, तब उनके लिए आहार, श्वसन, रक्तपरिसंचरण तंत्र की आवश्यकता ही नहीं रही। जरा सोचें कि ऊर्जा की तो पूर्ति हो गयी। आहार नहीं होगा, तो मल विसर्जन की भी आवश्यकता नहीं। प्रजनन तंत्र व तंत्रिका तंत्र कैसे काम करेंगे एवं वे तंत्र गैसीय अवस्था वाले कैसे होंगे? यह बात आप कैसे मानेंगे? यदि इसे मानेंगे, तो आपको निवेदन कर दूँ कि प्लाज्मा अवस्था गैसीय अवस्था से एक चरण अग्रिम अवस्था मात्र है। तब प्लाज्मा अवस्था वाले सूर्य पर प्राणी का होना, कैसे सम्भव नहीं? क्या इसको भी हॉकिंस मानें, तभी आपको स्वीकार होगा? आपको तो महर्षि जी की प्रतिभा पर आश्चर्य होना चाहिए कि बिना किसी वैज्ञानिक संसाधनों तथा वर्तमान गणित विद्या को पढ़े महर्षि ने अपनी प्रतिभा, योगबल एवं वेदविद्या के बल पर ही ऐसे रहस्यों का उद्घाटन किया, जो उस समय तक संसार के किसी भी वैज्ञानिक के लिए अज्ञात व अकल्पनीय थे। गैसीय अवस्था वाले शरीरों की सत्ता भी हॉकिंस को अब समझ में आयी है। अनेक प्रकार के वायुयानादि यंत्रों का निर्माण भी महर्षि के पश्चात् ही संसार के विकसित विज्ञान ने किया, जबकि महर्षि ने ऐसे ही नहीं अपितु आज से भी उत्कृष्ट विमानों का संकेत अपने वेदभाष्य में किया था। उस समय पश्चिमी वैज्ञानिक यदि ऋषि का वेदभाष्य पढ़े होते, तो उसी तरह अविश्वास करते, जिस तरह आप सूर्य पर प्राणियों की सत्ता पर अविश्वास कर रहे हैं परन्तु कुछ समय पश्चात् इसे भी सिद्ध ही पायेंगे। स्टीफन हॉकिंस गैसीय प्राणी की कल्पना से तो आज भी यह लगभग सिद्धवत् है।

प्रश्न– ऋषि सूर्यादि पर रहने वाले जीवों के शरीर, अंग भी हमारी अपेक्षा कुछ भेद से मानते हैं, इस विषय में आप क्या कहना है?

उत्तर– जिन लोकों पर प्राणियों के शरीर आकृतिवान् हैं, वहाँ ऋषि का कथन यथावत् उचित है परन्तु सूर्यादि तारों वा कुछ ग्रहों में जहाँ प्राणियों के शरीर गैस वा प्लाज्मा से बने हैं, वहाँ ऋषि के कथन का आशय यह है कि उन प्राणियों में भी इन्द्रियाँ अपने-२ कार्य करती हैं। वहाँ नेत्रादि अंग भी प्लाज्मा से बने होते हैं। आत्मा व सूक्ष्म शरीर तो सब लोकों में समान हैं। वे न जलते हैं और न गलते ही

हैं। स्थूल शरीर विभिन्न लोकों के परिवेश के अनुसार ठोस, द्रव, गैस वा प्लाज्मा के हो सकते हैं। विभिन्न प्रकार के प्राणों के द्वारा नियन्त्रित होते हैं। गैस वा प्लाज्मा के क्षेत्र भी विभिन्न प्राणादि के द्वारा मर्यादित व नियन्त्रित होकर काम करते हैं। उन प्राणियों के व्यवहार भी तदनुरूप ही होते हैं।

प्रश्न– महर्षि 'मनुष्यादि' शब्द का प्रयोग करते हैं उससे क्या यह ध्वनित नहीं होता कि महर्षि दो हस्त, दो पाद, दो नेत्रादि युक्त मानव आकार का प्राणी ही मान रहे हैं न कि स्टीफन हॉकिंस के समान गैसीय शरीर वाले विद्युदादि की कड़क से ऊर्जा ग्रहण करने वाले विचित्र जीवों की सत्ता की बात कर रहे हैं।

उत्तर– मनुष्यादि का तात्पर्य पृथिवी पर विद्यमान मनुष्यादि के आकार वाला प्राणी ही ग्रहण करना उचित नहीं। महर्षि यास्क जी मनुष्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं– 'मत्वा कर्माणि सीव्यतीति' अर्थात् जो विचारपूर्वक कर्म करता है, उसे मनुष्य कहते हैं। यहाँ इस परिभाषा के अनुसार ऋषि दयानन्द जी का यही मन्तव्य है कि सूर्यादि लोकों में विद्यमान प्राणी भी मनन शक्तिसम्पन्न होते हैं। वे स्थूल तंत्रिका तंत्र से युक्त भले ही न हों परन्तु उनमें बुद्धि, मन, इन्द्रियां आदि सभी की सत्ता के साथ प्लाज्मा अवस्था वाले ज्ञान तंतुओं वा अंगों की सत्ता अवश्य होती है, जिससे वे हमारी भांति सम्पूर्ण व्यवहार चलाते हैं।

प्रश्न– 'मनुष्य' पद का अर्थ आप अपनी कल्पना से करके महर्षि जी का अन्धा पक्ष लेकर उनके कथन का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। आपका यह पक्षपाती व पूर्वाग्रही प्रयास सफल नहीं होगा। महर्षि जी ने 'पूषणं न्व....उच्यते' ऋ. 6/55/4 के भाष्य में 'अजाश्वम्' पद का अर्थ करते हुए स्पष्ट लिखा है कि सूर्य में बकरी व घोड़े विद्यमान हैं। अब आप बकरी व घोड़े इन हिन्दी पदों का यौगिक अर्थ करने का साहस करें और बतायें कि ये बकरी व घोड़े कैसे हैं?

उत्तर– प्रथम मैं सत्यार्थ प्रकाश पर की गयी शंकाओं के निवारण में सत्यार्थ प्रकाश की दृष्टि से विचार करूंगा। महर्षि जी द्वादश

समुल्लास में जैन मत के खण्डन करते हुए इस भूगोल में 132 सूर्य तपने की बात पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं- 'अब देखो भाई! इस भूगोल में 132 सूर्य और 132 चन्द्रमा जैनियों के घर पर तपते होंगे। भला जो तपते होंगे, तो वे केसे जीते हैं?' यदि महर्षि सूर्य में पृथिवी के मनुष्य के समान आकृति वाले प्राणी की सत्ता को मानते, तो सूर्य से लगभग 15 करोड़ किमी. दूर पृथिवी पर सूर्य से आने वाले प्रकाश व ऊष्मा से होने वाले ताप का 132 गुणा होने पर मनुष्य नामक प्राणी के जीवित रहने पर व्यंग्य नहीं करते। इससे सिद्ध हुआ कि ऋषि सूर्य के तल के ताप पर पृथिवी पर विद्यमान मनुष्यादि आकृति वाले प्राणी की सत्ता नहीं मान सकते। अब वेदभाष्य की चर्चा पर आते हैं। महर्षि जी ने इस मंत्र के संस्कृत भाग में 'अजाश्वम्' पद का अर्थ 'अजाश्चाश्वाश्चास्मिँस्तम्' किया है और हिन्दी में 'जिसमें बकरी और घोड़े विद्यमान' यह अर्थ किया है, जबकि इससे ठीक पूर्व वाले मंत्र में भी 'अजाश्व' पद आया है, जिसका अर्थ संस्कृत भाग में 'अजोऽनुत्पन्नो विद्युदश्वो यस्य तत्सम्बुद्धौ' किया है और हिन्दी भाषा में 'अविनाशी बिजुलीरूप घोड़े वाले', यह अर्थ है। अब विचारें कि 'अजाश्व' दोनों मंत्रों में लगभग समान है। पूर्व मंत्र में 'अविनाशी बिजुलीरूप घोड़े वाले' अर्थ किया, तो अगले ही मंत्र में बकरी व घोड़े नामक धरती के प्राणी कहाँ से आ गये?

जैसा कि कई आर्य विद्वान् मानते हैं कि वेदभाष्य में आर्य भाषा (हिन्दी) भाष्य महर्षि कृत नहीं है, बल्कि अन्य विद्वानों ने किया है, मैं इस मत से सहमत हूँ। वे विद्वान् कहीं-२ महर्षि के भाव को न समझ मिथ्या अर्थ कर गये हैं। जहाँ-२ महर्षि का संस्कृत भाष्य पूर्ण स्पष्ट नहीं हुआ अर्थात् शीघ्रतावश ऋषि यह विचार करके कि पूर्व प्रसंग में दिये अर्थानुसार भाषालेखक स्वयं समझ लेगा, अपना भाष्य कुछ अस्पष्ट छोड़ गये, वहाँ भाषा लेखकों ने अपनी बुद्धि का ही आश्रय लेकर बिना पूर्व अर्थ को ध्यान में रखे मनमाना अर्थ कर डाला, जैसा कि ऊपर स्पष्ट है कि पूर्व मंत्र में 'अजाश्व' पद का स्पष्टार्थ 'अजोऽनुत्पन्नो विद्युदश्वो यस्य तत्सम्बुद्धौ' किया, वहीं अगले मंत्र में 'अजाश्वम्' का अर्थ 'अजाश्चाश्वाश्चास्मिँस्तम्' करके 'अज' व 'अश्व' दोनों ही पदों को यथावत् छोड़कर आगे बढ़ गये। उन्होंने

सोचा कि जब 'अजाश्व' पद का स्पष्ट अर्थ ऊपर है ही, तो भाषा लेखक स्वयं 'अज' व 'अश्व' पदों, जो क्रमशः विशेषण व विशेष्य हैं, का अर्थ पूर्व मंत्र को देखकर कर ही लेगा परन्तु भाषार्थ करने वाले ने ऊपर के मंत्र के संस्कृत व स्वयं द्वारा किए गये भाषार्थ को भी देखने का प्रयास नहीं किया और 'बकरी' व 'घोड़े' इन पदों को 'अज' व 'अश्व' के अर्थ के रूप में थोप दिया। हमें महर्षि के वेदभाष्य में दिये संस्कृतभाष्य को बहुत सावधानी से देखना चाहिए, तभी भाषार्थ ठीक हो पायेगा।

प्रश्न– आप महर्षि की मान्यता के समर्थन में स्टीफन हॉकिंस को प्रमाण मानकर प्रस्तुत कर रहे हैं। ये हॉकिंस तो ईश्वर व पुनर्जन्म की मान्यता को नकार कर भौतिकी नियमों के द्वारा ही सृष्टि उत्पत्ति व संचालन होना ही स्वीकार करते हैं। इस विषय में आप क्या हॉकिंस को प्रमाण मानेंगे? यदि हाँ, तो आपके महर्षि व वेदादि शास्त्र मिथ्यासिद्ध हो जायेंगे और यदि प्रमाण नहीं मानेंगे, तो कहीं प्रमाण मानना, तो कहीं न मानना तो स्वार्थपरता ही कहलायेगा।

उत्तर– संसार में कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं होता। केवल परमात्मा ही पूर्ण होता है। इस कारण यह आवश्यक नहीं कि किसी व्यक्ति के सभी विचारों का पूर्ण समर्थन किया जाये वा पूर्ण विरोध किया जाये। हमें सत्य के ग्रहण व असत्य के त्याग में ही तत्पर रहना चाहिए। जो–२ विचार आपके आत्मा को उचित, सत्य प्रतीत हों, उनका स्वीकार और जो विपरीत प्रतीत हों, उनका अस्वीकार करना ही न्याय है। अन्धानुकरण किसी का भी उचित नहीं। भौतिकी के नियमों द्वारा सृष्टि उत्पत्ति व संचालन की बात को महर्षि एवं उनके अनुयायी हम सभी स्वीकार ही करते हैं। हम इसके साथ एक कदम आगे बढ़कर यह और कहते हैं कि उन नियमों का नियामक एक चेतन सत्ता है। नियम स्वयं न तो बनते हैं और न वे स्वयं नियंत्रण में रहते हैं। हॉकिंस की पुस्तक 'द ग्राण्ड डिजायन' को देखे बिना भारतीय मीडिया ने जिस नास्तिकता का पुरजोर प्रचार किया, वह मूर्खता वा षड्यंत्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है। पाप का प्रचार जोर शोर से होता है और सत्य–पुण्य का प्रचार नहीं होता है। भारतीय मीडिया, राजनीति, कथित बुद्धिवादी सभी चारवाक मत में दीक्षित नास्तिक हो चुके हैं। हॉकिंस ने इस पुस्तक में बाइबिल के चमत्कारी ईश्वर के द्वारा बिना

नियमों के अपनी इच्छा मात्र से मात्र 6 दिनों में सम्पूर्ण सृष्टि रच देने के चमत्कार तथा बाबा आदम आदि की मान्यताओं का खण्डन किया है। उन्होंने पुस्तक में बाइबिल तथा बाबा आदम आदि नामोल्लेख पूर्वक खण्डन किया है। अन्य देशों के दर्शनों पर भी कुछ संकेत किये हैं परन्तु कहीं भारतीय वैदिक अवधारणा की ओर कोई संकेत नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो हिन्दुओं के बहुदेवतावाद में जकड़े हजारों मत पन्थों के जाल को उन्होंने यह सोचकर अपने विचार में नहीं लाया हो कि हिन्दुओं के कैसे ईश्वर को मानकर अपने विचार लिखूँ? अथवा वे भारतीय दर्शन के प्रति जानबूझकर उपेक्षा करते हों। वस्तुतः जब तक वैदिक ईश्वरवाद का संसार भर में प्रचार नहीं होगा, तब तक ईश्वरीय सत्ता एवं उसके साथ-२ कर्मफल व्यवस्था, पुनर्जन्म अवधारणा सभी का उपहास ऐसे ही होता रहेगा। दुर्भाग्य से आज तक कथित हिन्दू समाज स्वयं वैदिक विचारधारा को समझने का प्रयास नहीं कर रहा, तब हॉकिंस को दोष क्यों दें? यदि हॉकिंस के पास वैदिक ईश्वरवाद को सुस्पष्ट रूपेण प्रस्तुत किया गया होता और वे भी पूर्वाग्रह वा अहंकार से ग्रस्त न होते, तो ईश्वरादि मान्यताओं को नकारने का कोई भी कारण उन्हें नहीं मिलता। मैं तो उन्हें धन्यवाद ही दूंगा कि वे ईसाइयों के देश में रहकर भी बाइबिल का प्रबल खण्डन कर रहे हैं। भारत में भी वैज्ञानिकों को पुराणी, जैनी, बौद्ध, कुरान, बाईबिल आदि की अवैज्ञानिक मान्यताओं का खुला खण्डन करना चाहिए। तभी सत्य धर्म की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ेगी परन्तु इसके लिए आर्य विद्वानों को अपना प्रमाद त्यागना होगा।

शंका (2)– सत्यार्थ प्रकाश में महर्षि ने मनुष्यों का युवावस्था में पृथिवी से वृक्षों के समान उत्पन्न होना लिखा है। बड़ी हास्यास्पद बात है कि इस पृथिवी से पूर्ण युवा मनुष्य (स्त्री व पुरूष) अकस्मात् धरातल को फोड़ कर बाहर निकल आये। तब तो गाय, भैंस, भेड़, बकरी, चीते, शेर, हाथी सभी पूर्ण युवावस्था में धरती से ही बाहर निकले होंगे। क्या विचित्र गपोड़ा है? फिर नाम है सत्यार्थ प्रकाश? वास्तविकता यह है कि मनुष्य की उत्पत्ति प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन के अनुसार अमीबा नामक एक कोशीय प्राणी से विकसित होते हुए बन्दर के पश्चात् क्रम से होती है।

समाधान– इस विषय में मैं कुछ समय पूर्व लिखे गये अपने एक लेख **'विकासवाद का वैदिक सिद्धान्त'** को उद्धृत कर रहा हूँ–

सृष्टि व मनुष्य की उत्पत्ति वैज्ञानिक जगत् के लिए कुतूहल का विषय रही है। चार्ल्स डार्विन के विकासवाद की परिकल्पना के पश्चात् इसके समर्थन तथा विरोध दोनों ही पक्षों में बहस चलती आ रही है। विकासवादी अवधारणा अमीबा से लेकर मनुष्य तक की श्रृंखला को क्रमिक विकास की देन मानती है, जिसमें विभिन्न प्रजातियों में परिस्थितियों के अनुकूल कुछ परिवर्तन आते रहकर उन्हीं से नयी–2 प्रजातियां उत्पन्न होती रहीं। इस प्रकार इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य एवं अन्य पशु–पक्षियों, कीट–पतंगों सभी के पूर्वज एक ही थे तथा आधुनिक बन्दर मनुष्य का सर्वाधिक निकट सम्बन्धी है।

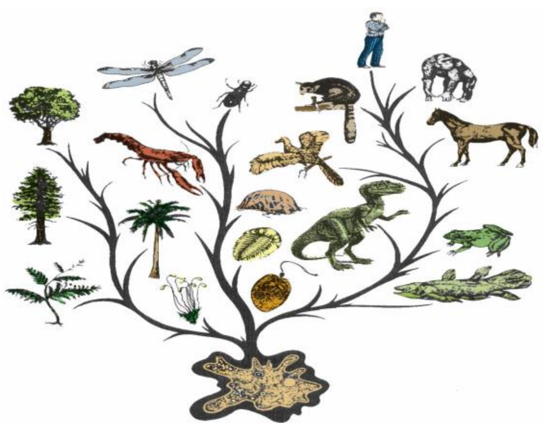

विभिन्न प्रजातियों में नाना अंगों का विकास स्वयमेव आवश्यकता के अनुरूप होता रहा अर्थात् एक प्राणी दूसरे प्राणी में किसी विकृति के कारण बदलता रहा। इस विकासवाद के विरुद्ध भी अनेक विदेशी वैज्ञानिकों ने समय–2 पर अनेक सिद्धान्त दिए हैं। शारीरिक विकास,

बौद्धिक विकास एवं भाषा के विकास, इन तीनों ही विषयों पर विकासवाद के विरोधी विदेशी वैज्ञानिकों ने भी अनेक गम्भीर प्रश्न खड़े किये हैं, परन्तु विकासवादी कभी इन प्रश्नों का समुचित उत्तर नहीं दे पाते। इधर भारत में **महर्षि दयानन्द सरस्वती** एवं उनके परवर्ती व अनुयायी अनेक विद्वानों ने विकासवाद की अवधारणा को मिथ्या सिद्ध किया है, पुनरपि डार्विन का विकासवाद आज भी कुछ पूर्वाग्रही वैज्ञानिकों के लिए आदर्श सिद्धान्त बना हुआ है।

अभी केन्द्रीय मानव संसाधन विकास राज्य मंत्री **श्रीमान् डॉ. सत्यपालसिंह जी के वक्तव्य कि हम सभी मानव बन्दरों की नहीं, बल्कि मानव की ही सन्तान हैं, पर ये महानुभाव कोलाहल करते हुए उन पर चतुर्दिक् आक्रमण करने लगते हैं।** देश के वैज्ञानिक व वैज्ञानिक संस्थान भी सब एकजुट हो जाते हैं। मैंने भी इन सभी से सोशल मीडिया के माध्यम से अनेक प्रश्न पूछे थे परन्तु किसी भी प्रमाणित संस्था वा विद्वान् ने मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया बल्कि कुछ महानुभावों ने अनर्गल प्रलाप ही किया। इन महानुभावों को किसी भी देशी अथवा विदेशी वैज्ञानिक अथवा विचारक का यह कथन कदापि स्वीकार नहीं कि हम मनुष्य की ही सन्तान हैं?

मेरे प्रश्नों के उत्तर में केवल मेरा सिद्धान्त जानने की इच्छा व्यक्त करने वाले महानुभावों के लिए मैं वैदिक विकासवाद पर अपने संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करता हूँ।

वस्तुतः **'विकासवाद'** शब्द पर विचार करें, तो यह शब्द अति उत्तम व सार्थक है, लेकिन डार्विन एवं उनके समर्थकों ने इस शब्द का समुचित अर्थ नहीं जाना और अपने अवैज्ञानिक मत को **'विकासवाद'** विशेषण से विभूषित करने का प्रयास किया। अगर हम सम्पूर्ण सृष्टि पर गम्भीरता से विचार करें, तो स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण सृष्टि

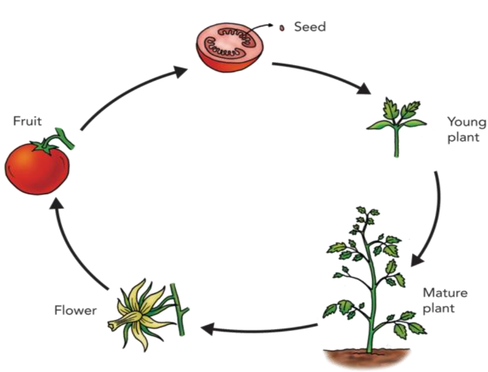

एवं उसका प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ विकास की सीढ़ियां चढ़ते-2 ही

वर्तमान स्वरूप में आज दिखाई दे रहा है। बिना क्रमिक विकास के प्राणी जगत् की बात ही क्या करें, कोई लोक-लोकान्तर वा एक कण, फोटोन आदि भी कभी नहीं बन सकता। **वैदिक विज्ञान विकासवाद की विशद व्याख्या करता है परन्तु हमारा विकासवाद डार्विन का विकासवाद कदापि नहीं है। डार्विन का विकासवाद वस्तुतः विकासवाद नहीं है, बल्कि अनियन्त्रित व बुद्धिविहीन यदृच्छयावाद (मनमानापन) है,** जिसे भ्रमवश वैज्ञानिक विकासवाद नाम दिया जा रहा है।

वास्तव में **विकास का अर्थ है, बीज से अंकुर, अंकुर से पौधा व उससे पुष्प, फल व पुनः बीज का उत्पन्न होना।** आज विज्ञान जिन्हें मूल कण मान रहा है, वे क्वार्क तथा फोटोन्स भी वास्तव में मूल पदार्थ नहीं है। वे भी सूक्ष्म रश्मियों को संघनित रूप हैं अर्थात् उन रश्मियों के नाना समुदायों के विकसित रूप हैं। जो String theorist इन कणों को सूक्ष्म Strings से निर्मित मानते हैं, वे Strings भी मूल तत्व नहीं हैं, बल्कि वे वैदिक रश्मियों के संघनित व विकसित रूप हैं। Strings व कणों वा फोटोन्स के विकास से वर्तमान विज्ञान अनभिज्ञ है। जीवविज्ञानी जिस अमीबा को सबसे छोटी इकाई मानते हैं अथवा उसके अन्दर विद्यमान गुणसूत्र, जीन्स, D.N.A. आदि को सूक्ष्मतम पदार्थ मानते हैं, वे नहीं जानते कि **जहाँ उनका जीव विज्ञान समाप्त हो जाता है, वहाँ भौतिक विज्ञान प्रारम्भ होता है और जहाँ वर्तमान भौतिक विज्ञान समाप्त हो जाता है, वहाँ वैदिक भौतिक विज्ञान प्रारम्भ होता है और जहाँ वैदिक भौतिक विज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ वैदिक आध्यात्मिक विज्ञान प्रारम्भ होता है।** आज विडम्बना यह है कि वैदिक भौतिक विज्ञान एवं वैदिक आध्यात्मिक विज्ञान की नितान्त उपेक्षा करके वा उसका उपहास वा विरोध करके भौतिक विज्ञान एवं जीव विज्ञान आदि की समस्याओं का हल खोजने का प्रयास किया जा रहा है। यह भी एक दुःखद सत्य है कि संसार को वैदिक भौतिक विज्ञान से अवगत कराने वाले भी कहाँ हैं? इस कारण वर्तमान विज्ञान अनेक समस्याओं से ग्रस्त है तथा एक समस्या का समाधान करने का प्रयास करता है, तो अनेक नई समस्याओं को उत्पन्न भी कर लेता है। एक टैक्नोलॉजी का आविष्कार करता है, तो नाना दुष्प्रभावों को भी उत्पन्न कर लेता है, दवाओं के विकास के साथ रोगों का भी निरन्तर विकास हो रहा है, सुख-साधनों के विकास के साथ-2 अपराधों एवं पर्यावरण प्रदूषण को

भी समृद्ध करता जा रहा है। इन सब समस्याओं का मूल कारण है, वर्तमान विज्ञान का अपूर्ण ज्ञान, जिसका कारण वैदिक ज्ञान की उपेक्षा ही है। अस्तु।

हम चर्चा कर रहे थे कि सृष्टि का प्रत्येक कथित मूलकण व फोटोन सूक्ष्म वैदिक रश्मियों के अति बुद्धिमत्तापूर्ण संयोग से बने हैं। वे रश्मियां मनस्तत्व एवं मनस्तत्व, काल व प्रकृति के संयोग से उत्पन्न होता है। **सबके पीछे सर्वनियन्त्रक, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, निराकार, सर्वज्ञ चेतन सत्ता ईश्वर की प्रेरणा है।** सृष्टि के सर्वाधिक सूक्ष्म तत्व प्रकृति से लेकर वर्तमान मूलकणों तक की विकास यात्रा बड़ी लम्बी व व्यवस्थित वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका वर्तमान भौतिक वैज्ञानिकों को विशेष भान नहीं है। मूलकणों एवं फोटोन की उत्पत्ति से लेकर तारे, ग्रह व उपग्रहों तक के निर्माण तक की विकास यात्रा की चर्चा यहाँ करना उचित नहीं। वैसे वर्तमान Cosmology, Particle Physics, Astrophysics, Quantum field theory, String theory जैसी विभिन्न शाखाएं इन विषयों की अपनी सीमा के अन्दर व्याख्या करती हैं। मेरा विषय भी इन्हीं पदार्थों पर गम्भीर प्रकाश डालना है। जीव विज्ञान मेरा विषय नहीं है, पुनरपि वर्तमान अन्ध कोलाहल के बीच कुछ युवकों के आग्रह पर मैं अपनी बात भौतिक विज्ञान की गहराइयों को छोड़कर वनस्पति व प्राणिजगत् की उत्पत्ति पर ही केन्द्रित करता हूँ।

जब पृथिवी जैसा कोई ग्रह अपने तारे से पृथक् होता है, किंवा तारा उन ग्रहों से पृथक् होकर दूर जाता है, उस समय ग्रह का स्वरूप आग्नेय होता है। धीरे-2 वह आग्नेय रूप ठंडा होकर द्रवीय रूप में परिणत होने लगता है और उस समय उत्पन्न जल वाष्प धीरे-2 ठंडे होकर वृष्टि होने से पृथिवी पर जल भी भरने लगता है। जो भाग जल से बाहर रहता है, वहाँ भी जीवन की उत्पत्ति हेतु आवश्यक तत्व आक्सीजन, हाइड्रोजन, कार्बन, नाइट्रोजन, D.N.A., R.N.A., वसा, अमीनो अम्ल, प्रोटीन, जल आदि विभिन्न रासायनिक अभिक्रियाओं के निरन्तर चलते रहने के कारण उत्पन्न होने लगते हैं। इनकी उत्पत्ति में सहस्रों वर्ष लगते हैं। ये सभी पदार्थ इस पृथिवी पर यत्र-तत्र द्रव व गैस रूप में भर जाते हैं। सद्यः उत्पन्न सागरों में भी ये पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। इनके पुनः अग्रिम विकसित व संयुक्त रूप से एककोशीय वनस्पति की उत्पत्ति होती है। **विभिन्न एटम्स व**

छोटे मॉलीक्यूल्स के विशिष्ट व बुद्धिजन्य संयोग से वनस्पति कोशिका की उत्पत्ति अति रहस्यमयी व व्यवस्थित प्रक्रिया है। यह बात सदैव ध्यातव्य है कि सूक्ष्म रश्मियों से लेकर वनस्पति कोशिका के निर्माण के सहस्रों चरणों का संचालन किसी यदृच्छया (मनमानापन) प्रक्रिया से सम्भव नहीं हो सकता और न ही यह सब निष्प्रयोजन और अनियंत्रित प्रक्रिया है, बल्कि यह ईश्वर तत्व द्वारा बुद्धिपूर्वक प्रेरित, नियंत्रित व एक विशिष्ट प्रयोजनयुक्त प्रक्रिया है। एक-2 कोशिका की संरचना को ध्यान से देखें, तो पायेंगे कि इसमें अरबों सूक्ष्म कणों का एक विशिष्ट वैज्ञानिक संयोग है और उनमें से प्रत्येक कण सैकड़ों सूक्ष्म वैदिक रश्मियों का विशिष्ट संयुक्त वा विकसित रूप है। इस कारण सर्वत्र चेतन शक्ति की अनिवार्य भूमिका है। इसके बिना यह प्रक्रिया एक कदम आगे नहीं बढ़ सकती। यह भी ध्यातव्य है कि जल, वायु, भूमि एवं इनमें वा इनके द्वारा नाना जीवनीय तत्व बनने के उपरान्त सर्वप्रथम वनस्पति की ही उत्पत्ति होती है। वनस्पति कोशिका के उत्पन्न होने, उसके जीवित रहने एवं उसके विकसित होकर पौधे के उत्पन्न होने के लिए आवश्यक तत्वों की उत्पत्ति पहले होती है, उसके पश्चात् ही वनस्पति कोशिका का जन्म रासायनिक प्रक्रिया से होता है। प्राणी कोशिका वनस्पतियों के निर्माण के पश्चात् ही उत्पन्न होती है। इसका कारण है कि सभी जीव-जन्तु वनस्पतियों पर ही प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से निर्भर हैं। मांसाहारी प्राणी शाकाहारी प्राणियों पर निर्भर रहते हैं। **इस कारण वनस्पतियों की उत्पत्ति के पश्चात् जीव जन्तुओं की उत्पत्ति एककोशीय जीव से ही प्रारम्भ होती है।** वनस्पतियों में भी सरल से जटिल संरचना वाली वनस्पतियों की क्रमिक उत्पत्ति होती है। **क्रमिक उत्पत्ति का अर्थ यह नहीं कि शैवाल विकसित होकर वट वृक्ष बन जाये अथवा पीपल, आम और बबूल बादाम का रूप ले ले।** इसी प्रकार एककोशीय जीव अमीबा की उत्पत्ति भूमि वा जल में होती है, लेकिन **कोई जीव भले ही वह एककोशीय हो अथवा बहुकोशीय, केवल कुछ पदार्थों का रासायनिक संयोग मात्र ही नहीं होता, अपितु उसके अन्दर सूक्ष्म चेतन तत्व जीवात्मा का भी संयोग होता है।** सम्पूर्ण संयोग ही जीव का रूप होता है। वर्तमान विज्ञान भी रासायनिक संयोगों से कोशिका की उत्पत्ति मानता है-

A very important step the formation of a cell must have been the development of lipid mambrane. In order that biological systems can function efficiently, it is essential that the enzymes connected with successive stages of synthesis of biochemical pathway should be in a close a proximity to one another. The necessary conditions for this are obtained in cells by means of lipid manbranes which can maintain local high concentration of reactants. The presence of hydrocarbons early in the earth's history has already been mentioned....

Life requires for its maintanance a continous supply of energy this could have been provided by ultraviolate or visible light from the sun, or possibly partly from the break down of unstable free radiations produced in the earth's atmosphere by ultraviolate light. [Cell Biology, page - 474 by E.J. Ambrose & Dorothy M. Easty, London -1973]

भाव यह है कि इस पृथिवी पर रासायनिक, जैविक क्रियाओं से विभिन्न प्रकार के एंजाइम्स का निर्माण होकर जीवन हेतु आवश्यक पदार्थों का निर्माण हो गया। इसके साथ ही अनेकत्र रासायनिक पदार्थों द्वारा ही कोशिका भित्तियों तथा जीव द्रव्यादि का निर्माण इस भूमि पर हुआ तथा उन कोशिकाओं को सतत पोषण देने का कार्य पृथिवी पर उपस्थित आवश्यक रासायनिक पदार्थों तथा सूर्य के प्रकाश ने किया।

कुछ वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि पृथिवी पर जीवन किसी अन्य ग्रह से आया, उनसे हम जानना चाहते हैं कि जिस प्रकार किसी अन्य ग्रह पर जीवन की उत्पत्ति हो सकती है, उसी प्रकार इस पृथिवी पर क्यों नहीं हो सकती? वस्तुतः ऐसा विचार सर्वथा अपरिपक्व सोच का परिणाम है। वर्तमान कुछ वैज्ञानिक भी इस धारणा से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं–

The view the life did infact originate on the earth itself after it had cooled over a period of many thousands of years is almost universally accepted today. [Cel Biology, page - 474]

जो वैज्ञानिक अमीबा से विकसित होकर अर्थात् एक प्रजाति से दूसरी प्रजाति के उत्पन्न होने की बात करते हैं, वे यह नहीं विचारते कि न तो वनस्पति में और न प्राणियों में ऐसा परिवर्तन सम्भव है और न इसकी कोई आवश्यकता है। हम यहाँ वैज्ञानिकों के कल्पित व मिथ्या विकासवाद पर कोई प्रश्न इस कारण नहीं करेंगे, क्योंकि हम इस पर पहले अनेक प्रश्न कर चुके हैं। जो डार्विन के विकासवाद की विस्तार से समीक्षा चाहते हैं, उन्हें आर्य विद्वान् पं. रघुनन्दन शर्मा द्वारा लिखित **'वैदिक सम्पति'** नामक ग्रन्थ पढ़ना चाहिए। भला **जब अमीबा की उत्पत्ति रासायनिक क्रियाओं से हो सकती है, तब विभिन्न प्राणियों के शुक्राणु व अण्डाणु की उत्पत्ति इसी प्रकार क्यों नहीं हो सकती?** जब 500 से अधिक गुणसूत्रों वाला अमीबा रासायनिक अभिक्रिया से उत्पन्न हो सकता है, तब बन्दर, चिम्पैंजी, ओरांगउटान जिनमें 48-48 गुणसूत्र होते हैं, ४६ गुणसूत्र वाले मनुष्य में स्त्री व पुरुष के 23-23 गुणसूत्र वाले शुक्राणु व अण्डाणु की उत्पत्ति अमीबा की भांति क्यों नहीं हो सकती? मनुष्य के ही बराबर गुणसूत्र वाले Sable Antelope जैसे हिरन जैसे पशु तथा Reaves's Muntjac नामक हिरन जैसे जानवर के शुक्राणु व अण्डाणु, 56 गुणसूत्र वाले हाथी के शुक्राणु व अण्डाणु क्यों उत्पन्न हो सकते? चींटी, जिसमें केवल 2 गुणसूत्र ही होते हैं, वह क्यों उत्पन्न हो सकती?

यहाँ **वैदिक मत यह है कि जिस जीव के भरण-पोषण हेतु जितने कम पदार्थों की आवश्यकता होती है, वह जीव उतना पहले ही उत्पन्न होता है।** सभी प्राणियों से पूर्व वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है और मांसाहारी प्राणियों से पूर्व शाकाहारी प्राणियों की तथा शाकाहारियों में मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसे सबसे विकसित वा उन्नत माना जा सकता है एवं वह विभिन्न प्राणियों व वनस्पतियों पर निर्भर रहता है, इसी कारण उसकी उत्पत्ति सबसे बाद में होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भ्रूणों का विकास बिना मादा के कैसे होता है? शुक्राणु व अण्डाणु तो मानलें रासायनिक क्रिया के फलस्वरूप भूमि वा जल में उत्पन्न हो गया परन्तु शुक्राणु व अण्डाणु का निषेचन व भ्रूण का विकास कहाँ व कैसे हुआ? इस विषय में मनुष्योत्पत्ति की चर्चा करते हुए **महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक ग्रन्थ में युवावस्था में भूमि से उत्पत्ति बताई है।** उन्होंने तर्क दिया है कि यदि शिशु अवस्था में उत्पत्ति होती तो, उनकी रक्षा व पालन कौन करता तथा यदि वृद्ध उत्पन्न होते, तो वंश परम्परा कैसे चलती? इस कारण मनुष्य की युवावस्था में ही भूमि से उत्पत्ति होती है।

यद्यपि इस विषय में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया परन्तु हमें **ऋग्वेद** के प्रमाण इस विषय में मिले, जहाँ लिखा है-

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात्।। १०.१८.१०

इस पर मेरा आधिभौतिक भाष्य - हे जीव! (**सुशेवाम्**) {**सुशेवः सुसुखतमः- निरुक्त ३.३**} उत्तम सुख देने में सर्वश्रेष्ठ (**एताम्**) इस (**मातरम्**) माता के समान (**भूमिम्**) प्रारम्भ में जिसके गर्भ में सभी प्राणी उत्पन्न होते वा जिस पर सभी प्राणी निवास करते हैं, वह पृथिवी (**उरु-व्यचसम्**) अति विस्तार वाली होकर सभी भ्रूणों को (**उप सर्प**) निकटता से प्राप्त होती है, इसके साथ ही उस गर्भ का

आन्तरिक आवरण निरन्तर हल्का स्पन्दन करता रहता है (**ऊर्णम्रदा**) {**ऊर्णम्रदा इत्यूर्णमृद्वीत्येवैतदाह– काश. ४.२.१.१०, साध्वी देवेभ्य इत्येवैतदाह यदाहोर्णम्रदसं त्वेति– श. १.३.३.११**} वह भूमि उन भ्रूणों को ऐसा आच्छादन प्रदान करती है, जो ऊन के समान कोमल, चिकना व आरामदायक हो। वह उस दिव्य भ्रूण को सब ओर से गर्भ के समान सुखद स्पर्शयुक्त घर प्रदान करती है। (**युवतिः**) उस गर्भरूप पृथिवी में नाना जीवनीय रसों के मिश्रण–अमिश्रण की क्रियाएं निरन्तर चलती रहती हैं (**दक्षिणावतः**) वह पृथिवी उन भ्रूणों को तब तक पोषण प्रदान करती रहती है, जब तक वे अपना पालन व रक्षण करने में पूर्ण दक्ष अर्थात् सक्षम न हो जायें (**एषा**) यह भूमि (**त्वा**) तुम जीव को (**निर्ऋतेः–उपस्थात्**) {**निर्ऋतिर्निरमणात् ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा– निरु. २.८**} पूर्ण रूप से निरन्तर सानन्द रमण करती है, ऐसे सुरक्षित व उत्तम स्थानों में (**पातु**) उन भ्रूणों वा जीवों का पालन करती है। इसके साथ ही जहाँ क्लेश पहुंच सकता है, ऐसे असुरक्षित स्थानों से उस भूमि के गर्भरूप आवरण उस जीव वा भ्रूण की रक्षा करते हैं।

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवी मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाम्येनं भूम ऊर्णुहि।। १०.१८.११

मेरा आधिभौतिक भाष्य – (**पृथिवि**) वह गर्भरूप पूर्वोक्त पृथिवी (**उच्छ्वञ्चस्व**) उत्कृष्टरूपेण ऊर्ध्व दिशा में स्पन्दित होती हुई किंवा उफनती हुई होती है। (**मा बाधथाः**) उस भूमि का आवरण ऐसा होता है, जो उसके अन्दर पल रहे भ्रूण वा जीव को प्राप्त हो रहे जीवनीय रसों को नहीं रोकता है अर्थात् वे रस रिस–2 कर उस जीव को प्राप्त होते रहते हैं (**अस्मै**) वह इस जीवन के लिए (**सूपायना–भव**) वह भूमि उसे पोषक व संवर्धक जीवनीय तत्वों का उपहार भेंट करती है (**सूपवञ्चना**) {**उपवञ्चनम् = दुबकना– आप्टे**} वह भूमि आवरण उन भ्रूणों वा जीवों को अच्छी प्रकार छिपाकर आश्रय प्रदान करता है (**माता यथा**) जिस प्रकार माता अपनी सन्तान को गोद वा गर्भ में ढक कर सुरक्षा प्रदान करती है, उसी प्रकार (**नि–सिचा भूमेः**) {**नि+सिच् = ऊपर डाल देना, गर्भयुक्त करना– आप्टे**} भूमि के वे भाग उन जीवों को अपने गर्भ में लेकर उनके ऊपर नाना आवरणों

के द्वारा (**एनं**) उन जीवों को (**अभि ऊर्णुहि**) सब ओर से आच्छादित कर लेते हैं।

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र।। १०.१८.१२

मेरा आधिभौतिक भाष्य – (**उच्छ्वञ्चमाना**) पूर्वोक्त उफनी एवं मृदु स्पन्दन करती हुई सी कोमल (**पृथिवी**) भूमि (**सु तिष्ठतु**) उन भ्रूणों वा जीवों की आच्छादिका होकर सुदृढ़ता से सुरक्षापूर्वक स्थित होकर उन जीवों को भी स्थैर्य प्रदान करती है (**सहस्रम् मितः**) उस भूमि के पृथक्-2 स्थानों में अनेक संख्या में (**उप हि श्रयन्ताम्**) जीव निकटता से आश्रय पाते हैं किंवा उन गर्भरूप स्थानों में बड़ी संख्या में **{मितः = मिनोतिगतिकर्मा- निघं. २.१४}** विभिन्न सूक्ष्म अणुओं का प्रवाह बना रहता है (**ते गृहासः**) भूमि के वे स्थान उन जीवों के लिए घर के समान होते हैं **{गृहाम् = गृहाः कस्माद् गृह्णातीति सताम्- निरु. ३.१३}** और घर के समान वे भूकोष्ठ उन जीवों को ऐसे ही पकड़े वा धारण किए रहते हैं, जैसे माता अपनी सन्तान को गर्भ में धारण किए रहती है (**धृतश्चुतो भवन्तु**) वे भूकोष्ठ ऐसे होते हैं कि उनमें घी के समान चिकने रस सदैव रिसते रहते हैं (**अस्मै**) वे उन जीवों के लिए (**विश्वाहा**) **{विश्वाहा = सर्वाणि दिनानि- म.द.य. भा. ७.१०}** सर्वदा अर्थात् पूर्ण युवावस्था तक (**शरणाः सन्तु अत्र**) इस अवस्था में वे जीव उन कोष्ठों में आश्रय पाते हैं।

इन मंत्रों में भूमि के अन्दर युवावस्था तक कैसे मनुष्य सहित सभी जरायुज प्राणी विकसित होते हैं, इसका सुन्दर चित्रण किया गया है।

जिस प्रकार अमीबा आदि एक कोशीय प्राणी की कोशिका का निर्माण रासायनिक व जैविक क्रियाओं से होता है, उसी प्रकार बहुकोशीय जरायुजों तथा अण्डजों के भी शुक्र तथा रज का निर्माण इस उफनी हुई कोमल तथा सभी आवश्यक पदार्थ, जो भी माता के गर्भ में होते हैं, से परिपूर्ण पृथिवी के धरातल की परतों में हो जाता है। अब हम विचारें कि भ्रूण के पोषण के लिए माता के गर्भ की आवश्यकता क्यों होती है? इस कारण, ताकि भ्रूण को आवश्यक वृद्धि हेतु पोषक पदार्थ प्राप्त हो सकें, भ्रूण को सुरक्षित कोमल, चिकना

आवरण तथा आवश्यक ताप मिल सके। यदि इन परिस्थितियों को माता के गर्भ से अन्यत्र कहीं उत्पन्न कर दिया जाये, तो भ्रूण का विकास वहीं हो जायेगा, जिस प्रकार आज परखनली से बच्चे पैदा किये गये हैं।

हाँ, एक बात महत्व की है कि **उस समय मनुष्य वा कोई भी जरायुज युवावस्था में भूमि से उद्भिजों की भांति उत्पन्न होता है।** भगवद् दयानन्द जी महाराज का यह कथन सर्वथा उचित है कि यदि शिशु उत्पन्न हो, तो पालन कौन करे और यदि वृद्ध पैदा होते, तब उनसे वंश कैसे चलता? (देखें- **सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास**) उपनिषत्कार ऋषि इसे और विस्तार देता है-

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः.......... ।।

मुण्डक उप. २.१.७

अर्थात् उस परमात्मा से अनेक विद्वान् सिद्धि प्राप्त जन तथा साधारण विद्वान् जन पैदा हुए।

आर्य विद्वान् **आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री** ने **"वैदिक युग और आदिमानव"** में बोस्टन नगर (अमेरिका) के स्मिथ सीनियन इंस्टीट्यूट के जीव विज्ञान के विभागाध्यक्ष **डाक्टर क्लार्क** को उद्धृत करते हैं-

Man appeared able to think walk and defend himself. अर्थात् मनुष्य सृष्टि के आदि काल में सोचने, चलने तथा स्वयं की रक्षा करने में समर्थ उत्पन्न होता है।

यहाँ कोई यह प्रश्न करे कि पृथिवी रूपी गर्भ में पच्चीस वर्ष तक युवा कैसे पलता और बढ़ता रहा? तो इस पर गम्भीरता से विचारें, तो कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती क्योंकि जिस प्रकार आज भी एक बालक, जो लगभग 9 मास माता के गर्भ में रहता है। प्रसव के पूर्व न श्वांस लेता है, न हाथ-पैर फेंकता है, न खाता, पीता, मल-मूत्रादि विसर्जित करता है, उसमें प्रसव के तुरन्त बाद सभी क्रियायें तुरन्त प्रारम्भ हो जाती है। तब यह क्या अद्भुत बात नहीं है, आश्चर्यजनक नहीं है? यदि किसी व्यक्ति को इस सबसे दूर रखा जाये और इस प्रसव प्रक्रिया से नितान्त अनभिज्ञ होवे, तब वह इस प्रसव प्रक्रिया को सम्भव नहीं मानेगा। यदि उसने अण्डजों की ही उत्पत्ति देखी हो, तो वह जरायुजों की प्रसव प्रक्रिया को अण्डजों से

भिन्न मानने को तैयार नहीं होगा। इसलिए युवावस्था में प्राणियों की उत्पत्ति असम्भव नहीं है, हाँ, अद्भुत अवश्य है। फिर इतनी सृष्टि प्रक्रिया की जटिलता, क्रमबद्धता, वैज्ञानिकता क्या अद्भुत नहीं है? तब युवावस्था में प्राणी उत्पत्ति कहाँ विचित्र रह जाती है?

यह भी जानना आवश्यक है कि जिस प्रकार रासायनिक अभिक्रियाओं से भूमि रूपी माता के अन्दर प्राणियों की उत्पत्ति होकर सभी जुरायुज, अण्डज तथा स्वेदज एक ही प्रकार से भूमि की परतों में उद्भिजों की भाँति युवावस्था में पैदा हुए, उसी प्रकार रासायनिक अभिक्रियाओं से विभिन्न वनस्पतियों के बीज भूमि की परतों में बनकर तथा आवश्यक पोषक पदार्थ पृथिवी पर ही मिल जाने से यत्र-तत्र पौधे, वनस्पति वा विशालकाय वृक्ष पूर्व में ही उत्पन्न हो गये थे। जिस प्रकार कोई प्राणी उत्पन्न होता है, उसका भोजन उसे तत्काल भूमि पर तैयार मिलता है। मनुष्यों के अनेकों नर-नारी जोड़े युवावस्था में भूमि पर प्रकट हुए, उस समय उसे पृथिवी फल, फूल व अन्न आदि से परिपूर्ण मिली और वे भूमि से निकल कर तत्काल ही फलादि उसी प्रकार खाने को प्रवृत्त हुए, जिस प्रकार आज बालक (मनुष्य वा गाय आदि पशु का) पैदा होते ही माता का दुग्धपान करने लगता है। इसमें कहीं कोई सन्देह वा शंका को अवकाश नहीं है।

यह मैंने संक्षेप में मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में लिखा। **मुझे बड़ा आश्चर्य है कि चार्ल्स डार्विन के पश्चात् उनके पुत्रों सहित अनेकों यूरोपियन वैज्ञानिकों ने भी इस मिथ्या विकासवाद का खण्डन किया परन्तु पाश्चात्य के दास बने कथित प्रबुद्धों के मस्तिष्क में अभी चार्ल्स डार्विन का भूत बैठा हुआ है।**

अब मैं संक्षेप में **पं. रघुनन्दन शर्मा** द्वारा लिखित पुस्तक **'वैदिक सम्पत्ति'** से कुछ वैज्ञानिकों के विचारों को भी उद्धृत करना चाहता हूँ-

सर ओलिवर लॉज लिखते हैं-

We are in the process of evolution; we have arrived in this planet by evolution. That is all right. What is evolution? Unfolding development-unfolding as a bud unfolds into a flower, as an acron into an oak. Every

thing is subject to a process of growth, of development, of unfolding.

अर्थात् हम लोग विकास के ही प्रबन्धाधीन हैं। हम लोग विकास द्वारा ही इस पृथिवी ग्रह पर पहुंचे हैं। यह सब सत्य है, किन्तु विकास क्या है? विकास अबाधित उन्नति है। अबाधित अर्थात् कली से फूल हो जाने का नियम-बीज से वृक्ष हो जाने का मार्ग। प्रत्येक पदार्थ कली से फूल की भांति अबाधित उन्नति का ही फल है। (Science and Religion, p.16.) (वै. सम्पत्ति पृ.150)

There is manifest progress in the succession of being on the surface of the earth. This progress consists in an increasing similarity of the living fauna, and among the vertebrates especially, in their increasing resemblance to man .... But this connection is not the consequence of a direct linkage between the fauna of different ages. There is nothing like parental descent connecting them. The fishes of the Palaeozoik age are in no respect the ancestors of the reptiles of the secondary age, nor does man descend from the mammals which preceded him in the Tertiary age. The link by which they are connected is of a higher and immaterial nature and Himself, whose aim in forming the earth, in allowing it to undergo successively all the different types of animals which have passed away, was to introduce man upon the surface of our globe. Man is the end towards which all the animal-creation has tended from the first appearance of the Palaeozoic fishes.

अर्थात् पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले, बिना हड्डी के जन्तुओं और मनुष्यादि हड्डीदार प्राणियों में एक समान ही उन्नति देखी जाती है, परन्तु इस समानता का यह तात्पर्य नहीं है कि एक प्रकार के प्राणी दूसरे प्रकार के प्राणियों से ही विकसित हुए हों। आदिम कालीन

मत्स्य ही, सर्पणशील प्राणियों के पूर्वज नहीं हैं और न मनुष्य ही अन्य स्तनधारियों से विकसित हुआ है। प्राणियों की श्रृंखला किसी अभौतिक तत्व से सम्बन्ध रखती है, जिसने पृथिवी पर अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि करके अन्त में मनुष्य की रचना की है। - Principles of Zoology, Pg. 205-206 by **Agassiz** (वै. सम्पत्ति पृ.150-151)

How did living creatures begin to be upon the earth? In point of science, we do not know. अर्थात् विज्ञान के द्वारा हम नहीं जानते कि पृथिवी पर जीवधारी प्राणियों की सृष्टि कैसे हुई। -Introduction to Science, Pg. 142 by **J.A. Thomson** (वै. सम्पत्ति पृ.152)

The question is : what was the manner of their being upon the previously tenantless Earth? Our answer must be that we do not know. अर्थात् इस उजाड़ पृथिवी पर प्राणी कैसे उत्पन्न हुए? इस प्रश्न का हम यही उत्तर देते हैं कि हम लोग नहीं जानते।

-Evolution, Pg. 70 by **Prof. Patrick Geddes** (वै. सम्पत्ति पृ.152)

नवम्बर सन् 1922 के New Age नामक पत्र में Jones Bowson कहते हैं कि 'ब्रिटिश म्यूजियम (अजायबघर) का अध्यक्ष **डॉ. ऐथ्रिज** कहते हैं कि इस ब्रिटिश म्यूजियम में एक कण भी ऐसा नहीं है, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियों (Species) में परिवर्तन हुआ है। विकास विषयक दस में नौ बातें व्यर्थ और निस्सार हैं। इनके परीक्षणों का आधार सत्यता और निरीक्षण पर बिलकुल अवलम्बित नहीं है। संसार भर में कोई भी सामान ऐसा नहीं है, जो विकास की सहायता करता हो।' (वै. सम्पत्ति पृ.170)

प्रथम विश्वयुद्ध के समय **'क्रिश्चियन हेरल्ड'** में यह समाचार छपा था कि ब्रिटिश साइंस सोसायटी का अधिवेशन मेलबोर्न (आस्ट्रेलिया) में हुआ। **प्रोफेसर विलियम वेटसन** इसके सभापति थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि 'डारविन का विकासवाद बिलकुल

असत्य और विज्ञान के विरुद्ध है।' **प्रो. प्रेट्रिकगेडिस** कहते हैं कि For it must be admitted that the factors of the evolution of man partake largely of the nature of the may-be's which has no permanent position in Science. अर्थात् यह युद्ध इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य जैसा पहले था वैसा ही अब भी है। -Ideals of Science and Faith. (वै. सम्पत्ति पृ.212)

सर जे. डब्ल्यू डासन कहते हैं कि 'विज्ञान को बन्दर और मनुष्य के बीच की आकृति का कुछ भी पता नहीं है। मनुष्य की प्राचीनतम अस्थियाँ भी वर्तमान मनुष्य जैसी ही हैं। इनसे उस विकास का कुछ पता नहीं लगता, जो इस मनुष्य-शरीर के पहले हुआ था।' (वै. सम्पत्ति पृ.212)

सिडनी कॉलेट कहते हैं कि 'साइंस की स्पष्ट साक्षी है कि मनुष्य अवनत दशा से उन्नत दशा की ओर चलने के स्थान में उल्टा अवनति की ओर जा रहा है। मनुष्य की आरम्भिक दशा उत्तम थी।' (वै. सम्पत्ति पृ.213)

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री द्वारा लिखित **''वैदिक युग और आदि मानव''** पुस्तक पृ. 11 से उद्धृत-

Now a days unhappily Jelly fish produces nothing but Jelly fish. But had that gelatinous morsel been fated to live. say a million of centuries earlier it might have been the proginitor of the race from which Homer and Plato, Devid and paul, Shakespear and our eminent professor have in their order been evolved. (**Conder's** Natural Selection and Natural Theology)

If it could be shown that the thrush was hatched from the lizard. (**Conder's** same book)

फ्रैंच दार्शनिक Henri Bergson को Anti Darwin theory देने के लिए नोबेल पुरस्कार मिला। फिर भी हमारे प्रबुद्धों

को कुछ समझ नहीं आया। नेट पर अनेकों अन्य विदेशी वैज्ञानिकों को Neo Darwinism आदि डार्विन विरोधी थ्योरिज् की चर्चा करते सुधी पाठक देख सकते हैं। इधर भारतीय वैज्ञानिकों की चर्चा के प्रसंग में आर्य विद्वान् **स्वामी विद्यानन्द सरस्वती** द्वारा रचित **''सत्यार्थ भास्कर''** ग्रन्थ (पृ. 877) को उद्धृत करना यहाँ प्रासंगिक है–

वनस्पतिशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् **डा. बीरबल साहनी** से पूछा गया– ''आप कहते हैं कि आरम्भ में एक सेल के जीवित प्राणी थे, उनसे उन्नति करके बड़े-2 प्राणी बन गये। आप यह भी कहते हैं कि आरम्भ में बहुत थोड़ा ज्ञान था, धीरे-2 उन्नति होते हुए ज्ञान उस अवस्था को पहुंच गया, जिसको विज्ञान आज पहुंचा हुआ है।'' तब आप यह तो बताइये कि– "Wherefrom did life come in the very beginning and wherefrom did knowledge come in the very beginning?" अर्थात् ''प्रारम्भ में जीवन कहाँ से आया और प्रारम्भ में ज्ञान कहाँ से आया? क्योंकि जीवन शून्य से उत्पन्न हो गया, यह नहीं माना जा सकता।'' **डा. साहनी** ने उत्तर में कहा, **''इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि आरम्भ में जीवन या ज्ञान कहाँ से आया।** हम इस बात को स्वीकार करके चलते हैं कि आरम्भ में कुछ जीवन भी था और कुछ ज्ञान भी था''–

"With this we are not concerned as to where from life came in the very beginning or wherefrom knowledge came in the very beginning. We are to take it for granted that there was some life in the beginning of the world and there was knowledge also in the beginning of the world and by slow progress it increased."

इससे भी विकासवाद की दुर्बलता प्रकट हो जाती है।

अन्त में मैं भारत ही नहीं, अपितु विश्व भर के प्रबुद्ध मानवों व वैज्ञानिकों से निवेदन करना चाहूंगा कि वे अपने इतिहास पर गर्व करना सीखें। आप सभी यह तो मानते व जानते ही हैं कि वेद संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। हम यह भी सिद्ध करने की क्षमता

रखते हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा **वेद मंत्ररूपी ध्वनि तरंगों से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है अर्थात् जिन ध्वनि तरंगों से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई, वे ध्वनियां वेद मंत्र ही थे एवं वर्तमान में वे ही तरंगें सर्वत्र विद्यमान हैं।** यह मेरी **Vaidic Rashmi theory of Univerce** है, जो इस ब्रह्माण्ड को वर्तमान भौतिकी की अपेक्षा बहुत आगे तक समझा सकती है। मैंने ऋग्वेद के मंत्रों द्वारा भी मनुष्य की उत्पत्ति की चर्चा इस लेख में की है। वेद तथा ऋषियों के मत में मनुष्य की प्रथम पीढ़ी सर्वाधिक बुद्धिमती, शारीरिक व मानसिक बल तथा सत्वगुण सम्पन्न थी। उसके पश्चात् उनमें न्यूनता ही आयी, न कि विकास हुआ। हम संसार भर के सभी मानव उन्हीं महान् पूर्वजों के वंशज हैं। **वेद हम सबका है, ऋषि हम सबके पूर्वज हैं। वेद व ऋषियों के ग्रन्थों पर मानवमात्र ही नहीं, अपितु ब्रह्माण्ड के सभी बुद्धिमान् प्राणियों का साझा अधिकार है। आयें, हम सभी इस साझी विरासत को अपनायें, अध्ययन व अनुसंधान करें और गर्व से स्वयं को पृथिवी के सबसे बुद्धिमान् मनुष्यों का वंशज कहें।** मैंने केवल जैव विकासवाद पर ही चर्चा की है, ज्ञान व भाषा के कथित क्रमिक विकास की समालोचना पृथक् लेख वा पुस्तक में की जा सकती है। जैव विकासवाद पर भी संक्षिप्त चर्चा की है अन्यथा यह लेख एक पृथक् पुस्तिका का रूप ले लेता। विज्ञ पाठक ज्ञान व भाषा के विकास के साथ-2 सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अद्भुत विज्ञान को समझने हेतु **''वेदविज्ञान आलोकः''** नामक मेरे विशाल ग्रन्थ, जो कुल 2800 पृष्ठों का चार भाग में छप चुका है, उसे खरीद कर पढ़ सकते हैं। हाँ, चलते-2 एक बात यह भी लिखना उचित समझता हूँ कि यदि कोई प्रबुद्ध यह कहे कि जब सूक्ष्म रश्मियां विकास यात्रा करते हुए नाना कण, फोटोन एवं नाना लोकों को उत्पन्न कर सकती हैं अथवा उनके रूप में प्रकट हो सकती हैं, तब अमीबा से मनुष्य शरीर तक के विकास को क्यों मिथ्या बताया जाता है? इस विषय में हमारा निवेदन है कि जड़ जगत् के निर्माण वा विकास में रश्मियां कण वा फोटोन प्रायः अपने स्वरूप को भी बनाये रखते हैं, परन्तु कोई विकासवादी यह नहीं मानेगा कि विभिन्न प्राणियों के शरीरों में अमीबा अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। इस कारण यह तुलना करना उचित नहीं है।

मेरे मित्रो! जरा विचारें कि **जो व्यक्ति वा समाज स्वयं को पशुओं का वंशज कहे, उसमें आत्म-स्वाभिमान कहाँ रहेगा?** इस विषय में लखनऊ विश्वविद्यालय में दिए एक व्याख्यान में नासा के वैज्ञानिक और भारतीय प्रधानमंत्री के पूर्व वैज्ञानिक सलाहकार **प्रो. ओ.पी. पाण्डेय** ने डार्विन के विकासवाद को खारिज करते हुए उचित ही कहा है कि 'देश भर के बच्चों को गलत सिद्धान्त पढ़ाया जा रहा है, जिससे उन पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है।' (नवभारत टाइम्स -2 फरवरी 2018) आइये, इस दीन-हीनता के गर्त से निकालकर मैं आपको सर्वोच्च शिखर पर ले जाना चाहता हूँ। आयें, हम सब एक ईश्वर के पुत्र-पुत्री हैं एवं यह पृथिवी ही हमारी आद्य जन्मदात्री मां है, इस कारण यह सम्पूर्ण विश्व एक ही परिवार है। इस परिवार को सुख, शक्ति व आनन्द की ओर ले जाने का हम सब मानवों का दायित्व है। हमें विज्ञान को खुले व उदार मस्तिष्क से ही पढ़ने का प्रयास करना चाहिए। हमें पूर्वाग्रहों से बचकर सत्य-असत्य का विवेक करने हेतु सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए।

शंका (3)– महर्षि दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश के दशम समुल्लास में लिखा है कि 'आर्यों के घर पर शूद्र जब रसोई बनावें, तब मुख बांध कर बनावें। क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्न में न पड़े।' आठवें दिन नखछेदन करावें तथा स्नान करके पाक बनाया करें। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि शूद्रों के प्रति भेदभाव वा घृणा का भाव रखते थे।

समाधान– यहाँ यह तो सिद्ध ही है कि पाक कर्म केवल शूद्रों के द्वारा किया जाये। यदि शूद्र अछूत माना जाता, जैसा कि उस काल में माना जाता था, तो उससे भोजन बनवाया ही क्यों जाता? महर्षि स्पष्ट कहते हैं कि पाक कर्म केवल शूद्र ही करें, ब्राह्मणादि अपने-२ कर्म करें। जिससे उन्हें विद्यादि का अध्ययन अध्यापन, राज्य पालन, कृषि व व्यापार आदि करने के लिए अधिक समय मिल सके। रही बात मुंह पर पट्टी बांधने की, तो यह स्वच्छता की दृष्टि से कही गई है। प्रथम तो यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए कि शूद्र वा ब्राह्मणादि वर्ण जन्म से नहीं कर्म से ही होते हैं और भगवान् मनु से लेकर महर्षि दयानन्द जी तक की यही मान्यता रही है। महाभारत काल से इस मान्यता का पतन प्रारम्भ हो गया था, जो महर्षि के काल में चरमोत्कर्ष पर था, इससे देश में भारी सामाजिक विघटन हुआ। जरा विचारें कि जिस दुर्भाग्यपूर्ण काल में जन्मना ब्राह्मण, जो भले ही कर्मणा अतिशूद्र हों, क्षत्रिय व वैश्य की भी कच्ची रसोई नहीं खाते थे, वहाँ ब्राह्मण के घर रसोई केवल शूद्र ही बनावें, ऐसा कहना भी उस समय कितने साहस का काम था? कर्मणा व्यवस्था के आधार पर भोजन बनाने वाला शूद्र ही कहायेगा, भले ही वह अपनी ही माता, बहिन, पत्नि आदि क्यों न हो? तब सिद्ध हुआ कि इसके लिए भी महर्षि ने मुख पर पट्टी आदि की व्यवस्था करने की सलाह दी है। क्या भोजन पर किसी का उच्छिष्ट (जूंठा) अन्न का गिर जाना अथवा श्वास का लगना शुद्धता व स्वास्थ्य के अनुकूल है! महर्षि तो इसी समुल्लास में पत्नि व पति को भी एक दूसरे का उच्छिष्ट खाने का निषेध करते हैं, तब अन्य किसी के भी उच्छिष्ट को खाने की सलाह कैसे दे सकते हैं? आधुनिक विज्ञान भी इसका समर्थन करेगा। सभी के शरीरों की प्रकृति भिन्न-२ होने से उच्छिष्ट खाना रोगकारक हो सकता है। इसलिए ही मुंख पर पट्टी बांधने की सलाह दी है। नखछेदन, स्नानादि का परामर्श भी दिया है, जिससे स्वाभाविक सिद्ध

है कि ये सब कर्म स्वच्छता एवं आरोग्य की दृष्टि से करणीय है। इसमें भेदभाव आदि का कोई प्रश्न नहीं है। क्या आप जानते हैं कि जिस समय कोई सर्जन किसी रोगी का ऑपरेशन करता है, उस समय वह न तो बाहर पहिनने वाले जूते पहिन सकता है और न साधारण वेशभूषा को ही धारण कर सकता है। बल्कि वह एक विशेषरूपेण जीवाणुरहित व पूर्ण शुद्ध की हुई वेशभूषा पहिनता तथा मुख, नाक सबको ढककर ही ऑपरेशन करता है। तब क्या आप यह कहेंगे कि सर्जन अछूत है, इस कारण वह मुख, नाक सबको ढकता है अथवा वह रोगी को अछूत मानकर उसके गन्ध से बचने के लिए अपने मुख, नाक ढकता है। मैं समझता हूँ कि आप ऐसी मिथ्या धारणा नहीं रखेंगे। यह व्यवस्था कर्म से शूद्र, जो भोजन बनाने का काम करते हैं, उनके लिए ही नहीं है अपितु वर्तमान में माताओं आदि के लिए भी ऐसा करना चाहिए, साथ ही केश भी भली प्रकार बांधकर भोजन बनाना चाहिए। जिससे भोजन में केश टूटकर न गिरने पावें। आज उच्च स्तरीय होटलों में देखें, तो पायेंगे कि वहाँ भोजन परोसने वाला रोटी को हाथ से पकड़ कर नहीं बल्कि स्टील से स्वच्छ चिमटे ये पकड़कर परोसता है। क्या इसे छूआछूत कहेंगे अथवा स्वच्छता? आशा है आप इस पर कोई आपत्ति नहीं करेंगे।

प्रश्न– आप पूर्वाग्रह ग्रस्त होकर ऐसे तर्क देकर हमें सन्तुष्ट करना चाह रहे हैं, जो न्याययुक्त नहीं है। इसी समुल्लास में महर्षि ने यह भी तो लिखा है– ''चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा होता है। वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं। इसलिए ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों के हाथ का खाना और चाण्डालादि नीच, भङ्गी, चमार आदि का न खाना।'' इससे स्पष्ट है कि ऋषि उन्हें अछूत मानते थे।

उत्तर– इस विषय में महर्षि के मन्तव्य को सम्पूर्ण रूप से जानने के लिए इससे पूर्व प्रकरण को भी जानना आवश्यक है। इस प्रश्न कि शूद्र के छूए पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं? के उत्तर में महर्षि लिखते हैं– ''यह बात कपोलकल्पित झूठी है क्योंकि जिन्होंने गुड़, चीनी, घृत, दूध, पिसान, शाक फलमूल खाया, उन्होंने जानो सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया। क्योंकि जब शूद्र, चमार, भङ्गी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते छीलते .....

.... जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सबके हाथ का खा लिया। .... हाँ, मुसलमान, ईसाई आदि मद्य मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्यमांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है। परन्तु आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई दोष नहीं लगता।'' इस समस्त प्रकरण पर गम्भीरता से विचार करने से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं-

१. जब गुड़, चीनी, घृत, दूध आदि हम खाते हैं, तब उपर्युक्त सभी के हाथ का ही नहीं, बल्कि परोक्षरूपेण उनका उच्छिष्ट भी खाना पड़ जाता है।

२. मांस मदिरा का सेवन करने वालों के हाथ का इसलिए नहीं खाना चाहिए, क्योंकि उनकी संगति से ये पाप हममें भी आने की प्रबल आशंका रहती है।

३. शरीर अति दुर्गन्धयुक्त हो, तो उसके हाथ का खाना भी आरोग्य की दृष्टि से हानिकारक होता है, इस कारण ऐसे व्यक्ति के हाथ का बना नहीं खाना चाहिए। वे कहते हैं कि चाण्डालादि का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा रहता है। अतः नहीं खाना चाहिए। चाण्डालादि नीच भंङ्गी, चमारादि, इन शब्दों का प्रयोग किया गया।

निष्कर्ष- गुड़, चीनी, घृत, दूध आदि खाने से सबका छुवा वा उच्छिष्ट खाना हो जाता है, यह बात महर्षि ने उन लोगों को उत्तर देने के लिए कही है, जो छूआछूत के प्रबल समर्थक होकर शूद्र मात्र के हाथ का खाने का निषेध करते हैं। दूसरी बात यह है कि जो लोग गुड़, खांड़ आदि बनाने के व्यवसाय में लगे हैं, चाहे उन्हें समाज भंगी, चमार वा कुछ भी क्यों नहीं मानता है, वे अति दुर्गन्ध वाले कार्य नहीं करते हैं, इस कारण उनका शरीर दुर्गन्धयुक्त नहीं होता है। अतः गुड़, खांड़ आदि के खाने के समान ही उनके हाथ का बना भोजन करने में भी कोई दोष नहीं है। परन्तु यह भी ध्यान रखना है कि वे मद्य मांसादि का आहार न करते हों। कोई कहे कि गुड़ व खांड़ बनाने वाले भी यदि मद्य मांसादि की आहार करते हों, तो क्या गुड़ आदि पदार्थ भी न खाये जायें? इसका उत्तर यह है कि इन पदार्थों के बनाने वालों की परीक्षा सर्वत्र सर्वथा सम्भव नहीं और उसकी संगति भी इन पदार्थों के खाने मात्र से नहीं होती। इस कारण

मद्य मांसादि खाने वाले यदि गुड़ आदि बनाते भी हैं, तो भी दोष नहीं होगा परन्तु यदि भोजन बनाकर परोसेंगे, तो उसकी संगति आदि दोष आयेंगे। इस कारण नहीं खाना। जहाँ दुर्गन्ध के कारण भोजन करने का निषेध किया है, वहाँ चाण्डालादि नीच शब्दों का प्रयोग है। चाण्डाल वे लोग होते थे, जो बस्ती से दूर मद्य मांसादि का प्रचुर प्रयोग करते तथा अति मलिन रहते थे। उनके साथ ही भंगी, चमार आदि का प्रयोग उन लोगों के लिए किया है, जो चाण्डालादि के समान मांसाहारी, मद्यपी हैं, साथ ही मैला आदि ढोने का काम करते तथा शुद्धता से अति दूर रहने वाले होते थे। वे गुड़ बनाने वाले के समान स्वच्छ कर्म के करने वाले नहीं होते थे। कथित जन्मना जाति भले ही वे भंगी, चमार आदि नाम से सम्बोधित किये जाते थे पुनरपि वे अपेक्षाकृत स्वच्छ रहते थे, इस कारण उनके हाथ के बनाये गुड़, खांड़, घृत आदि खाने का निषेध नहीं किया है। जहाँ तक इसके उच्छिष्ट वा गन्दगी के समावेश की बात है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि गुड़ आदि बनाने वालों को ऐसा करना ही चाहिए। महर्षि की दृष्टि में उन्हें भी स्वच्छ रहना व स्वच्छता से ही ये सब कर्म करने चाहिए परन्तु वे ऐसा प्रायः नहीं करते, तब ऐसे पदार्थों का खाना एक विवशता भी मानी जा सकती है। यह भी एक तथ्य है कि गुड़ आदि अति उच्च ताप पर बनने से वे शुद्ध हो जाते हैं, जबकि भोजन बनाते समय इतना उच्च ताप नहीं होता, साथ ही भोजन करने में यह विवशता कभी-२ आपत्काल में ही होती है। तब प्राण रक्षार्थ दुर्गन्ध व हिंसा से ग्रस्त लोगों का बनाया भोजन करना वा उनके संग करना भी उचित होगा। हमें स्वच्छता वा अहिंसा जैसे पवित्र भावों को छूआछूत, भेदभाव जैसे घृणित व अधर्मयुक्त व्यवहार से नहीं जोड़ने चाहिए। हमें यह भी देखना चाहिए कि हर शूद्र समान कर्म नहीं करता। भोजन वाले शूद्र को पवित्र ही रहना चाहिए चाहे उसके माता पिता कोई भी मलिन कार्य क्यों न करने वाले हों। जरा विचारें कि यदि कोई गन्दगी साफ करने का काम करे और सारे दिन इसी में रहे तथा भली प्रकार हाथ, मुख वा शरीर की शुद्धि न करे। मल विसर्जन के पश्चात् भी भली प्रकार हस्त प्रक्षालन न करे। चमड़े का काम करते हुए शरीर की अति शुद्धता पर ध्यान न दे, तब ऐसी परिस्थिति में उसके हाथ का बना भोजन उसके परिवार वालों को भी नहीं खाना चाहिए। उसके घर भोजन बनाने वाली माताओं को तो पवित्र रहना ही चाहिए। आप जानते हैं कि सभी परिवारों में मातायें

रजोकाल में भोजनादि पाककर्म से पृथक् ही रहती हैं। इसका पालन प्रायः सभी करते हैं, तब क्या माना जाये कि यह माताओं के प्रति भेदभाव का सूचक है। यदि आपके हाथ दुर्गन्धयुक्त हैं, तब क्या आप उन हाथों से भोजन करना चाहेंगे? यदि नहीं, तो महर्षि को दोष कैसे दे सकते हैं?

जरा बताइये कि जब कोई सर्जन किसी रोगी का ऑपरेशन करता है, तब वह क्या किसी सफाई कर्मचारी को वहाँ थियेटर में आने देगा? क्या वह ऐसा किसी भेदभाव के कारण करता है? वह सर्जन न केवल सफाई कर्मचारी को बल्कि किसी अन्य सर्जन को भी बिना उचित गणवेश व जीवाणुरोधन के प्रवेश नहीं करने देगा। क्या यह भी छूआछूत है? यदि नहीं तो, पाकशाला, जो ऑपरेशन कक्ष के समान ही पवित्र होनी चाहिए, की स्वच्छता को लेकर ऐसे प्रश्न क्यों खड़े किये जाते हैं? आश्चर्य है कि आज के कथित समाजवादियों को स्वच्छता व करुणा से भी घृणा हो रही है, यह कैसा पागलपन है। यदि ऐसा समाजवाद सभी भोजनालयों एवं चिकित्सालयों में लागू कर दिया जाये, तो अनेक संक्रामक रोगों का प्रकोप हो जायेगा परन्तु जो पराये गुण में दोष व अपने दोष में गुण ही देखने के अभ्यासी हों, उनकी क्या चिकित्सा हो?

प्रश्न– सत्यार्थ प्रकाश में बार–२ भंगी, चमार व नीच शब्दों का प्रयोग किया गया है? क्या ये सब घृणा वा भेदभाव के सूचक नहीं है? क्या ये आपत्तिजनक नहीं है? क्या ऐसे शब्दों का प्रयोग किसी मानवतावादी को शोभनीय है?

उत्तर– हाँ, वर्तमान काल में इनका उपयोग आपत्तिजनक माना जाता है व है भी, परन्तु इसके समाधान के लिए इसी पुस्तक के अध्याय **'पथभ्रष्टों का दम्भ'** को ध्यान से पढ़ने का कष्ट करें, जहाँ बताया है कि भाषा देश व काल के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। वहाँ इस पर विस्तार से विचार किया गया है। पुनरपि एक उदाहरण द्वारा मैं इसे पुनः स्पष्ट करना चाहूँगा। पूर्व में कोई व्यक्ति लघुशंका करने को 'मूतना' कहता था, जो 'मूत्र प्रस्रवणे' धातु से निष्पन्न 'मूत्र' शब्द से बना है। यह शब्द न तो बुरा है और न असभ्यता का प्रतीक परन्तु उसके कुछ काल पश्चात् अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव से संस्कृत शब्द

मूत्र के अपभ्रंश 'मूत' वा 'मूतना' शब्दों को असभ्य व गंवारों की भाषा के शब्द माना जाने लगा। अंग्रेजी भाषा के **'यूरिन'** शब्द का प्रयोग प्रचलित हुआ। इधर भारतीय सभ्यता के लोगों ने 'लघुशंका' शब्द का आविष्कार किया। धीरे-२ यूरीन व लघुशंका दोनों के स्थान पर मूत्र त्यागने को बाथरूम जाना व न केवल मूत्र त्यागने के स्थान को अपितु मल त्याग के स्थान को भी 'टॉयलेट' शब्द से सम्बोधित किया जाने लगा। जो शब्द कभी 'टट्टी' घर था पुनः 'पाखाना' पुनः 'लैट्रीन' पुनः 'टॉयलेट' हो गया। अब मल व मूत्र त्याग दोनों ही स्थान को 'टॉयलेट' नहीं बल्कि 'बाथरूम' कहने लगे। स्नान घर भी बाथरूम और मलमूत्र त्याग का स्थान भी बाथरूम। अब बाथरूम शब्द भी असभ्य हो गया। इसके स्थान पर 'वॉशरूम' प्रचलित हो गया, आप रेलगाड़ी व वायुयान में इसके स्थान पर Lavatory शब्द देख सकते हैं। मैंने नई दिल्ली में एक केन्द्रीय मंत्री महोदय के आवास पर शौचालय व मूत्रालय के लिए लिए Rest Room लिखा देखा, देखकर दंग रह गया और अंग्रेजी भाषाविदों की इस चंचलता पर हंसी ही आयी। अभी तो भविष्य में इसके स्थान पर भी कोई अन्य शब्द आ सकता है। यह भाषा का ही प्रवाह है। हमें यह कहने में भी लज्जा आने लगी कि मैं मूत्र त्याग वा शौच के लिए जा रहा हूँ, जरा सोचिये, कि आज कोई कहे मैं मूतने वा मल त्याग करने जा रहा हूँ तो आप उस पर हंस पड़ेंगे और उसे गंवार कहेंगे और आप बाथरूम शब्द का प्रयोग होकर सभ्य व प्रगतिशील हो गये? बस भाषा ऐसे ही बदलती है। इसका कोई दोष भी नहीं मानना चाहिए। यह भाषा का एक स्वाभाविक गुण है। अतः महर्षि ने जो उनके काल में प्रचलित शब्द थे, वे ही प्रयोग किये हैं। इनको लेकर शोर नहीं मचाना चाहिए। आश्चर्य है कि आज कुछ उच्च स्तरीय वैदिक विद्वान् माने जाने वाले भी इन शब्दों से डर कर ऋषि की भाषा को सुधारने की वकालत करने लगे हैं? क्या पूर्व काल के सभी ग्रन्थों की भाषा को सुधारना लेखकों के साथ न्याय होगा? क्या ऐसा करना किसी का अधिकार हो सकता है? मेरी दृष्टि में कभी नहीं। हाँ, वर्तमान परिवेश को देख उस पर अपनी टिप्पणी दी जा सकती है। हाँ, इतना अवश्य है कि भंगी, चमार आदि शब्दों का प्रयोग वर्तमान में नहीं करना चाहिए क्योंकि वर्तमान भाषा में ये शब्द अच्छे नहीं माने जा सकते परन्तु किसी पुरातन ग्रन्थ की भाषा को ही बदल दिया जाने लगा, तो

भाषा के परिवर्तन का इतिहास ही समाप्त हो जायेगा। फिर तो प्राचीन सभी ग्रन्थों को संशोधित करना होगा परन्तु क्या संसार में कोई भी सम्प्रदाय वा समाज ऐसा करना चाहेगा? फिर ग्रन्थों के संशोधन की प्रक्रिया क्या सतत चलती रहेगी?

विनम्र निवेदन

मान्यवर! आपने आचार्य जी के कार्य और महत्ता को भली प्रकार समझ लिया होगा, ऐसी आशा करते हैं। यदि आपके हृदय और मस्तिष्क वेद के इस अपूर्व कार्य के लिए उत्सुक हुए हों और हमें अपना सहयोग करना चाहें तो आप हमारे यज्ञ में निम्न प्रकार से सहयोगी बन सकते हैं-

1. प्रतिवर्ष न्यूनतम 12,000/- रूपये अथवा एक बार न्यूनतम एक लाख रूपये का दान करके सहयोगी संरक्षक बन सकते हैं। आपको न्यास की वार्षिक बैठक में, जो प्रायः वार्षिकोत्सव के अवसर पर हुआ करेगी, में विशेष अतिथिरूपेण आमन्त्रित किया जाता रहेगा।
2. प्रतिवर्ष न्यूनतम 6,000/- रूपये अथवा एक साथ न्यूनतम 50,000/- रूपये देकर विशेष आमन्त्रित सदस्य बन सकते हैं। आपको भी वार्षिक बैठक के अवसर पर अतिथि रूपेण आमन्त्रित किया जाता रहेगा।
3. वार्षिक न्यूनतम 1,000/- रूपये अथवा एक सौ मासिक देते रहकर सहयोगी सदस्य बन सकते हैं।

नोट- उपर्युक्त सभी सहयोगी महानुभावों को न्यास की C.A. द्वारा की हुई वार्षिक ऑडिट रिपोर्ट भेजी जाया करेगी। जो महानुभाव स्वयं दान नहीं कर सकें, वे दूसरों को प्रेरित करके कम से कम 8 सदस्य आदि बनाकर स्वयं निःशुल्क उसी श्रेणी के सदस्य वा सहयोगी संरक्षक आदि बन सकते हैं।

4. वयोवृद्ध विद्वान्, संन्यासी, साधु, महान् वैज्ञानिक महानुभाव अपना आशीर्वाद तथा बौद्धिक सहयोग दे सकते हैं।
5. विद्यार्थी, किसान, श्रमिक, व्यापारी आदि अपनी पवित्र आहुति श्रद्धा व सामर्थ्य के अनुसार सहयोग कर सकते हैं।

विशेष निवेदन

यह कार्य अत्यन्त पवित्र है, इस कारण आचार्य श्री की भावनानुसार विनम्र निवेदन है कि **जिनकी आजीविका किसी भी प्रकार की हिंसा, चोरी, तस्करी, अश्लीलतावर्धक साधनों, नशीली वस्तुओं की विक्री, धोखाधड़ी, शोषण आदि पर निर्भर हो तथा जो निर्धन भाई अपनी सामर्थ्य से अधिक (अथवा अपने परिवार में क्लेश करके) दान देना चाहते हों, ऐसे महानुभावों की सद्भावना का धन्यवाद करते हुए भी हम उनका दान लेने में असमर्थ हैं। कृपया ऐसा करने का प्रस्ताव करके हमें लज्जित न करें। हाँ, जो बन्धु ऐसे कर्मों को त्यागकर हमसे जुड़ना चाहें, तो उनका हार्दिक स्वागत है।**

Bank Name	Punjab National Bank
A/c Holder	Pramukh, Shri Vaidic Swasti Pantha Nyas
A/c Number	4474000100005849
Branch	Bhinmal
IFS Code	PUNB0447400

या

Bank Name	State Bank of India
A/c Holder	Pramukh, Shri Vaidic Swasti Pantha Nyas
A/c Number	61001839825
Branch	Khari Road, Bhinmal
IFS Code	SBIN0031180

आप अपना चैक/ड्राफ्ट/धनादेश, **"प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास"** PAN No. AAATV7229A के नाम (केवल खाते में देय) भेजने का कष्ट करें, साथ ही अपना नाम व पता साफ अक्षरों

में लिखकर अवश्य भेजने की कृपा करें। **आप ऑनलाइन भी धन जमा करवा सकते हैं** परन्तु ऐसा करने वाले **महानुभाव अपना नाम व पता दूरभाष द्वारा तत्काल सूचित करने का कष्ट करें,** जिससे समय पर रसीद भेजी जा सके, अन्यथा हमें बहुत कठिनाई होती है।

नोट– न्यास को दिया हुआ दान आयकर अधिनिय 1961 **की धारा** 80**-जी के अन्तर्गत करमुक्त है।**

Donations now accepted through BHIM/UPI also

UPI Address shrivspnyas@upi

मानननीय डॉ. सत्यपाल सिंह जी, मानव संसाधन विकास राज्य मंत्री, भारत सरकार को 'वेदविज्ञान–आलोकः' ग्रन्थ भेंट करते हुए

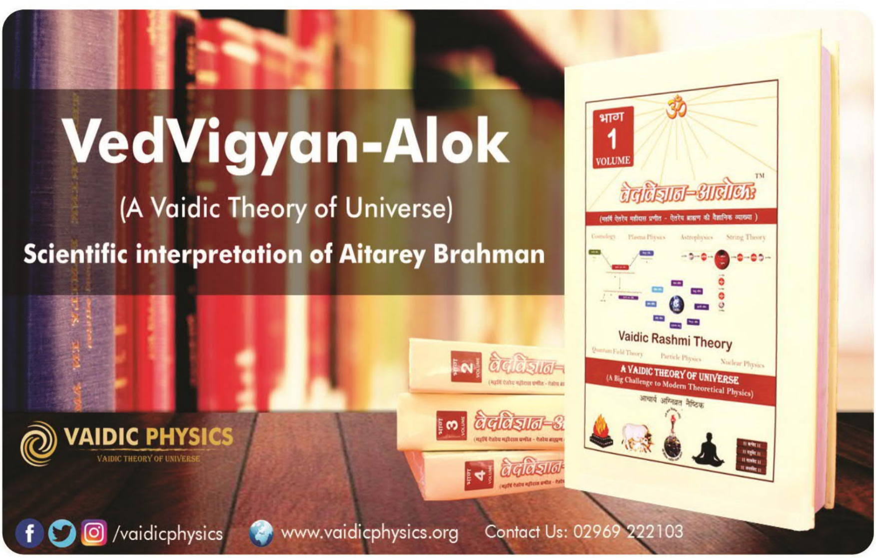

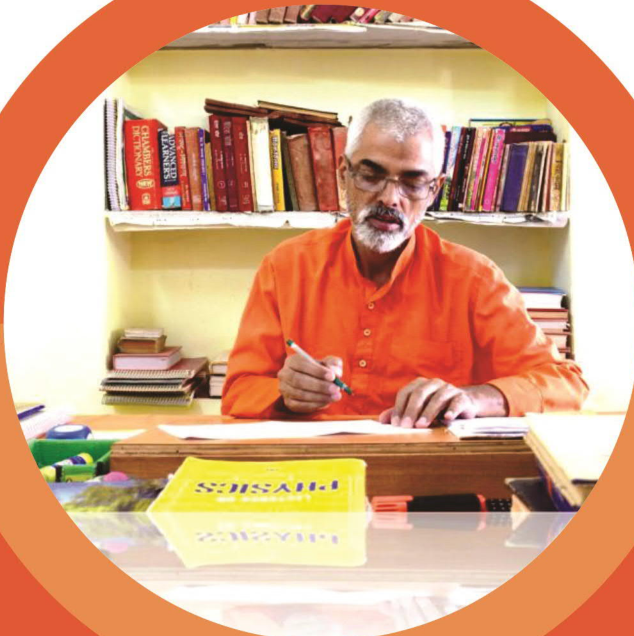

“ प्रायः देखा गया है कि आधुनिक सुपठित पाठकों को ‘सत्यार्थप्रकाश’ ग्रन्थ पढ़ते समय कुछ भ्रान्तियां हो जाती हैं, जिनके कारण वे ‘सत्यार्थप्रकाश’ पर व्यंग्य करने लगते हैं। ऐसे महानुभावों को चाहिए कि वे इस लघु पुस्तिका को एक बार ध्यान से पढ़ें, इससे उनकी सभी भ्रान्तियां दूर होकर ‘सत्यार्थप्रकाश’ की महत्ता स्वयं विदित हो जाएगी।

–आचार्य अग्निव्रत नैष्ठिक ”

/vaidicphysics